आर्यावर्त पुस्तकालय

पीडीएफ बाजी करने से पहले
एक बार प्रकाशन से पुस्तक
अवश्य क्रय करे।पीडीएफ
आपकी सुविधा एवम् दुर्लभ
ग्रंथ को बचाने एवम् डिजिटल
करने के लिए कर रहे है

इसका दुरुपयोग ना करे 🙏
अन्यथा जब प्रकाशन ग्रंथ ही
नहीं छापेंगे तो फिर हम
पीडीएफ भी किसकी बनाएंगे

यास्क-युग

पं० चमूपति एम०ए०

ओ३म्

यास्क-युग

की वेदार्थ-शैलियाँ

लेखक :

पं० चमूपति एम०ए०

प्रकाशक :

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

हिण्डौन सिटी (राज०)-३२२ २३०

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६-७०४४८
चलभाष : ०९४१४०-३४०७२, ०९८८७४-५२९५९

ISBN : 978-81-906230-9-4

संस्करण : सन् २००८ (ऋषि दयानन्द के बलिदान का १२५ वाँ वर्ष)

मूल्य : २०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान :
१. **हरिकिशन ओमप्रकाश**, ३९९ गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-६ चलभाष : ०९३५०९९३४५५
२. **सुबोध पॉकेट बुक्स**, २/४२४०-ए, अन्सारी रोड, नई दिल्ली-२ चलभाष : ०९८१००-०५९६३
३. **श्री राजेन्द्रकुमार**, १८, विक्रमादित्य पुरी, स्टेट बैंक कालोनी, बरेली (उ०प्र०) चल० : ०९८९७८८०९३०
४. **श्री वैदिकानन्द**, श्री स्वामी दयानन्द ब्रह्मज्ञान आश्रम न्यास, वैदिक सदन, भँवरकुआँ, इन्दौर-४५२ ००१ चलभाष : ०९३०२३-६७२००
५. **श्री गणेशदास-गरिमा गोयल**, २७०४, प्रेममणि-निवास, गली पत्तेवाली, नया बाजार, दिल्ली-६ चलभाष : ०९८९९७-५९००२
६. **श्रेष्ठ साहित्य सदन**, सैंती, चितौड़गढ़ (राज०) चलभाष : ०९४१३५-८४७५४
७. **श्री दयाराम पोद्दार**, आर्यसमाज मन्दिर, स्वामी श्रद्धानन्द पथ, राँची (झारखण्ड)-८३४ ००१ चलभाष : ०९८३५७-६५७४३
८. **पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय प्रकाशन मन्दिर**, वेद-सदन, अबोहर-१५१ ११६ (पंजाब) चलभाष : ०९४१७६-४७१३३

शब्द-संयोजक : **स्वस्ति कम्प्यूटर्स**, कैलाशनगर, दिल्ली-३१
चलभाष : ०९२११३-६२७३३, ०९२५५९-३५२८९

मुद्रक : **राधा प्रेस**, कैलाशनगर, दिल्ली-३१

विषय-सूची

भूमिका

इस पुस्तक का आशय इसके नाम से ही स्पष्ट है। निरुक्तकार ने स्वनिर्मित निरुक्त में वेदार्थ-कर्त्ताओं के कोई दस सम्प्रदायों की ओर संकेत किया है। इस पुस्तक में उन सम्प्रदायों का दिग्दर्शन कराया गया है। इस दिग्दर्शन का आधार निरुक्तकार के अपने संकेत हैं। निरुक्त के जिन-जिन स्थलों में इन सम्प्रदायों का उल्लेख है, उन सब को एकत्रित कर उन्हीं की सहायता से प्रत्येक सम्प्रदाय का स्वरूप निश्चित करने का यत्न किया गया है।

निरुक्त में जिन आचार्यों के वैयक्तिक मत उद्धृत किये गये हैं, उनके नाम एक पाद-टिप्पणी में देकर, वे किस सम्प्रदाय के हैं—यह अनुमान उनकी सम्मतियों के आधार पर करने का प्रयत्न किया गया है। निरुक्त-शास्त्र के विरोधी केवल कौत्स प्रतीत होते हैं, वे किसी विचारधारा के प्रतिनिधि हैं। उनके मत के स्वरूप का निश्चय उनकी तर्कशैली तथा **यास्क** द्वारा दिये गये उनके आक्षेप के प्रत्युत्तर से किया गया है।

निरुक्त में स्वयं नैरुक्तों के अतिरिक्त "आख्यान समय" और ऐतिहासिक सम्प्रदाय की ओर अधिक निर्देश मिलते हैं। इन दो पक्षों को साधारणतया एक समझा जाता है। इस लेखक की सम्मति में ये दो परस्पर भिन्न पक्ष हैं। "आख्यान" तो स्वयं वेद में भी मिलता है। यास्क के लेखानुसार उससे ऋषि को मन्त्रार्थ में "प्रीति" होती है। **स्कन्द स्वामी** मन्त्रगत इन आख्यानों को औपचारिक मानते हैं।[१] "**आख्यान समय**" में इन औपचारिक कथानकों के पात्रों को चेतन देवता मान लिया गया है। निरुक्तकार की अपनी सम्मति में ये देवता एक महान् आत्मा के अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं।

इतिहास-पक्ष का विशाल भवन प्रायः आख्यानों के आधार पर ही तय्यार हुआ प्रतीत होता है। इस सम्प्रदाय ने केवल देवताओं को चेतन ही नहीं माना, किन्तु औपचारिक कथानकों को सर्वांश में यथार्थ मान कर उन में कई अंशों की वृद्धि अपनी ओर से भी कर दी है। ऐतिहासिकों की इस

. एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः·················औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्।

अर्थात्—आख्यान-स्वरूप मन्त्रों के यजमानपरक और नित्य पदार्थपरक अर्थ करने चाहिएँ। यह शास्त्र का सिद्धान्त है।·········मन्त्रों में आख्यानवाद उपचार से है। वास्तव में तो नित्य पक्ष सिद्ध होता है।

प्रवृत्ति के कई उदाहरण इस पुस्तक में दिये गये हैं। यहाँ उनके दोहराने से ख्वाहमख्वाह का विस्तार होगा। वेद में जो सामान्य संज्ञाएँ (Common Nouns) पढ़ी थीं, उन्हें इन्होंने विशेषवाची नाम (Proper Nouns) बना दिया है। निरुक्तकार ने इन शब्दों का निर्वचन कर जहाँ इन्हें फिर से सामान्य संज्ञाओं का रूप दे दिया है, वहाँ अपने विशेष निर्वचन-प्रकार से इतिहास के विकास की इस प्रक्रिया पर भी खूब प्रकाश डाला है।

ऐतिहासिक पक्ष के निर्माण की एक प्रक्रिया तो यही है। एक और प्रक्रिया सूक्तों अथवा मन्त्रों की कल्पित भूमिका की है। मन्त्र के विषय को रोचक बनाने के लिए उसके आविर्भाव का एक अवसर सा कल्पित कर उसे एक रुचिकर घटना का रूप दे दिया गया। समय बीतने पर ये घटनाएँ वास्तविक समझी जाने लगीं। ऐतिहासिक सम्प्रदाय की धारणाओं का एक और रूप ये भूमिकाएँ हो गईं।

निरुक्तकार के मत में मन्त्र नित्य हैं। ऋषियों को उनका दर्शन होता है। ऋषियों के द्वारा मन्त्रों का निर्माण नहीं हुआ। नित्य मन्त्रों में अनित्य इतिहास का वर्णन निरुक्तकार के सिद्धान्त से सर्वथा असंगत होता। जहाँ मन्त्रों में ऋषियों के नाम आते हैं, वहाँ **नैरुक्तों** की सम्मति में वे सामान्य सज्ञाएँ ही प्रतीत होती हैं।

निरुक्तकार ने उनका निर्वचन उसी प्रकार किया है, जैसे अन्य शब्दों का। सम्भवत: मन्त्र-दर्शन से पूर्व ऋषि का कोई और नाम हो, मन्त्र के भाव को अपने में मूर्त कर—उस में पढ़े गये किसी विशेष शब्द को ऋषि ने अपने उपनाम के रूप में स्वीकार कर लिया होगा और समय गुजरने पर उस का यही नाम प्रसिद्ध हो गया होगा।

स्कन्द स्वामी के मत में **ऋषियों के नाम भी मन्त्रों की तरह नित्य हैं। प्रत्येक कल्प के आरम्भ में ऋषियों को पूर्व कल्प के ज्ञान की स्मृति होती है। और यद्यपि हर एक सृष्टि के ऋषि एक ही व्यक्ति नहीं होते तो भी प्रत्येक मन्त्र के द्रष्टा का नाम प्रत्येक कल्प में वही रहता है, जो उस से पूर्व के कल्पों में उस मन्त्र के द्रष्टाओं का चला आया था**[१]। यास्क के सिद्धान्त को सुसंगत करने का एक प्रकार यह भी है, परन्तु इस कल्पना में गौरव अधिक है। **यास्क ने मन्त्रों को नित्य माना है, इससे मन्त्र-गत ऋषिवाची नाम भी उनकी दृष्टि से नित्य हैं।** अन्य नामों के सम्बन्ध में यास्क ने कुछ नहीं कहा। इसलिए उन्हें भी यास्क के मत में नित्य मानने के

१. ते चर्षयो यद्यपि प्रतिसृष्ट्यन्येऽन्य उत्पद्यन्ते तथाप्यतीतसृष्टिकृतपुण्यविशेषवशात् तत्कर्माणस्तन्नामानश्चोत्पद्यन्ते। (१।१०)
अर्थ—वे ऋषि यद्यपि प्रत्येक सृष्टि में भिन्न-भिन्न उत्पन्न होते हैं तथापि पूर्व सृष्टियों में किये विशेष पुण्यों के कारण उन्हीं उन्हीं कर्मोंवाले पैदा होते हैं।

लिए हमारे पास **कोई आधार नहीं है।**

निरुक्त के विविध स्थलों को मिला कर पढ़ने से एक निष्पक्ष पाठक सम्भवतः इन्हीं विचारों पर पहुँचेगा, जिन पर कि हम पहुँचे हैं। हम ने प्रत्येक सिद्धान्त के विषय में प्रयत्न यही किया है कि उस पर यास्क का अपना मत अवगत किया जाय और वह आचार्य के अपने ही शब्दों से।

हम इस प्रयत्न में कहाँ तक सफल हुए हैं, इस में प्रमाण पाठकों की निष्पक्ष दृष्टि होगी। जिस के आगे हम अपने प्रयत्न को आदरपूर्वक पेश कर रहे हैं।

—**चमूपति**

वेदार्थ-कर्त्ताओं के यास्क-निर्दिष्ट सम्प्रदाय

यास्काचार्य ने निरुक्त का निर्माण स्वरचित[१] निघण्टु की व्याख्या के लिए किया था। परन्तु निघण्टु-पठित शब्दों का निर्वचन करते हुए आचार्य ने प्रकरणवश कई अन्य बातों पर भी प्रकाश डाला है। वेद के पढ़ने में उस समय कितनी रुचि थी—यह इसी बात से स्पष्ट है कि उस समय वेदों का अर्थ करने के अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। उनका कई विषयों में मतभेद भी था।

यास्क ने इस मतभेद की ओर स्थान-स्थान पर निर्देश किया है। उदाहरणतया (१) नैरुक्त मत के अनुसार "नाम" सभी आख्यातों द्वारा निर्मित हुए हैं। इससे कुछेक (२) **वैयाकरण** सहमत नहीं। (निरुक्त १। ११) उनकी सम्मति में कुछ "नाम" ऐसे भी हैं जिन की रचना आख्यातों से स्वतन्त्र हुई है। इस मतभेद के अतिरिक्त नैरुक्तों से वैयाकरणों की असहमति एक मन्त्र के अर्थों के सम्बन्ध में भी दिखाई गई। "चत्वारि वाक्परिमिता पदानि" (ऋ० १। १६४। ४५) में "चत्वारि पदानि" का अर्थ जहाँ नैरुक्त ऋक्, यजुः, साम और व्यावहारिक भाषा करते हैं, वहाँ वैयाकरण नाम,

---

१. निरुक्त ७। २२ में "वैश्वानर" के विषय में अपने आचार्य का मत प्रदर्शित करते हुए यास्क ने लिखा है:—

तत्को वैश्वानरः मध्यम इत्याचार्याः।

परन्तु स्वयं यास्क का मत इसके विपरीत यह है कि वैश्वानर पृथिवी-स्थानीय अग्नि का नाम है। निघण्टु ५। १ में **वैश्वानर** पृथिवी-स्थानीय देवताओं में पठित है।

२. निरुक्त ७। १३ में कई आचार्यों के सम्बन्ध में लिखा है कि देवताओं के नामों में उनके विशेषणों का भी संग्रह कर देते हैं।, परन्तु यास्क इन विशेषण-वाची नामों का संग्रह नहीं करते। वे लिखते हैं:—

यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्रधानस्तुतिः, तत्समाम्ने।

जो ऐसे संज्ञावाची नाम हैं, जिनकी प्रधान रूप से स्तुति की गई है, मैं उन्हीं का संग्रह करता हूँ।

निघण्टु में संग्रह हुआ भी ऐसे ही मुख्य नामों का है, किसी विशेषण-वाची नाम का परिगणन इस संग्रह में नहीं किया गया।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि निघण्टु भी उसी प्रकार यास्क की रचना है जैसे निरुक्त। पर यह ग्रन्थ यास्क को आचार्य परम्परा से मिला है। इसका अन्तिम सम्पादन यास्क द्वारा हुआ है। इस सम्पादन का पात्र निघण्टु भी है निरुक्त भी।

आख्यात, उपसर्ग और निपात करते हैं। (३) ''**आर्ष**'' मत में ये पद ओंकार तथा तीन महाव्याहृतियाँ हैं। (४) याज्ञिक पक्ष के अनुसार ये पद मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण तथा व्यावहारिक भाषा हैं। (५) **आत्म-प्रवाद सम्प्रदाय** की सम्मति में ये पशुओं, वाद्यों, मृगों तथा आत्मा (मनुष्यों) की बोलियाँ हैं। कुछेक और आचार्यों के मत में—जिन का सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं दिखाया गया—ये सर्पों, पक्षियों और छोटे-छोटे रेंगनेवाले जानवरों की तथा व्यावहारिक बोलियाँ हैं। (निरुक्त ९।१३) इनके अतिरिक्त एक मत किसी ब्राह्मण-ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है जो यास्क के समय से बहुत पूर्व का है। हम यहाँ उस का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं समझते।

एक और मन्त्र के अर्थ के सम्बन्ध में नैरुक्तों का (६) परिव्राजकों से मतभेद दिखाया गया है। '**बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश**'' (ऋ० १।१६४। ३२) का अभिप्राय परिव्राजकों की सम्मति में तो यह है कि अधिक सन्तान पैदा करनेवा ा दुःख को प्राप्त होता है और नैरुक्तों के मत में ''निर्ऋति'' का अर्थ पृथ्वी है जिस में ''बहुप्रजाः'' बादल ''आविवेश'' प्रविष्ट हुआ। अर्थात् इस वाक्य से उनके विचार में वर्षकर्म=वृष्टि=विवक्षित है। (निरुक्त २।१)

वाणियों के भेदों के विषय में अनेक पक्षों का उल्लेख करते हुए ऊपर ''याज्ञिक'' सम्प्रदाय का मत उद्धृत किया जा चुका है, इस पक्ष के कुछ और विचार भी निरुक्त में प्रदर्शित किये गये हैं। यथा—

१. ''**एकदा प्रतिधा**'' (ऋ० ८।७७।४) में ''सरांसि त्रिंशत्'' का अभिप्राय याज्ञिकों के मतानुसार ''त्रिंशत् उक्थ-पात्राणि'' है, जब कि नैरुक्त इन्हें ''त्रिंशत् अपरपक्षस्य अहोरात्राः, त्रिंशत् पूर्वपक्षस्य'' मानते हैं।

(निरुक्त ५।१०)

२. जिस मन्त्र का देवता दिखाया न गया हो, याज्ञिक उस मन्त्र का देवता यज्ञ अथवा यज्ञांग के देवता को मानते हैं। इनके अभाव में प्रजापति को। नैरुक्तों के मत में ऐसे मन्त्र ''नाराशंस'' हैं। (निरुक्त ७।४)।

''नाराशंस'' का अर्थ—

येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मन्त्रः। (निरुक्त ९।९)

जिन मन्त्रों से पुरुषों की स्तुति की जाए, वे मन्त्र 'नाराशंस' कहाते हैं।

३. ''अनुमति'' और ''राका'' याज्ञिकों के मत में पौर्णमासियाँ हैं और नैरुक्तों की सम्मति में देवपत्नियाँ। (निरुक्त ११।२९)

४. ऐसे ही ''सिनीवाली'' और ''कुहू'' याज्ञिकों के मत में अमावास्याएँ हैं और नैरुक्तों के पक्षानुसार देवपत्नियाँ। (निरुक्त ११।३१)

५. याज्ञिकों की दृष्टि में ''गौ धर्मधुक्'' है, जब कि नैरुक्त उसे माध्यमिक

वाक् अर्थात् बिजली की कड़क मानते हैं। —निरुक्त ११।३८

६. यही अवस्था ''धेनु'' शब्द की है। —निरुक्त ११।४०

याज्ञिकों के अतिरिक्त एक विचार (७) **पूर्व-याज्ञिकों** का भी प्रदर्शित किया गया है। यास्क के विचार में ''**वैश्वानर**'' इसी पार्थिव अग्नि का नाम है। इस विचार में यास्क अपने आचार्य से भी असहमत हैं। पूर्व-याज्ञिकों के पक्ष में ''वैश्वानर'' आदित्य है। (निरुक्त ७।२२) और यास्क के आचार्य की दृष्टि में वह मध्यम देवता अर्थात् वायु या इन्द्र है। (निरुक्त ७।२२)

हमने ऊपर के निर्देशों में सात सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। वे ये हैं:—(१) नैरुक्त (२) **वैयाकरण** (३) **आर्ष** (४) याज्ञिक (५) **आत्म-प्रवाद** (६) **परिव्राजक** (७) **पूर्व-याज्ञिक।**

सम्भव है, इन में से कुछेक सम्प्रदाय केवल एक आध बात में ही नैरुक्तों से भिन्न दृष्टिकोण रखते हों। निरुक्त में इन सम्प्रदायों का उल्लेख जिन-जिन स्थलों पर हुआ है, उन सब की ओर ऊपर संकेत कर दिया गया है। निरुक्त में इन सात सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक विचार (८) ''**आख्यान समय**'' तथा (९) ऐतिहासिकों द्वारा किये गये मन्त्रार्थों पर किया गया है। इन दो पक्षों को मिला कर मन्त्रार्थकर्त्ताओं के कुल नौ सम्प्रदाय अथवा पक्ष हो जाते हैं।

''आख्यान समय'' पर पृथक् विचार करने की आवश्यकता है। इसे हम अगले अध्याय का विषय बनायेंगे। और ऐतिहासिक पक्ष तो नैरुक्त पक्ष के साथ-साथ लगभग सारे निरुक्त में ओत-प्रोत है। इस पक्ष से सम्बद्ध सभी स्थलों पर और आगे चलकर विचार किया जाएगा।

नैरुक्तों से मिलता जुलता एक पक्ष (१०) **नैदानों** का है इस पक्ष की ओर निरुक्त में दो बार संकेत किया गया है—एक तो निरुक्त ६।१० में जहाँ 'स्याल' शब्द की व्युत्पत्ति नैदान मत के अनुसार ''आसन्नः संयोगेन''—इन शब्दों में दी गई है; दूसरे निरुक्त ७।१२ में जहाँ ''साम'' शब्द का निर्वचन ''ऋचां समं मेने इति नैदानाः।'' कहकर किया गया है। **यदि यह पक्ष नैरुक्तपक्ष से भिन्न हो तो वेदार्थ करनेवालों की संख्या नौ के स्थान में दस हो जाएगी**[१] **।**

---

१. यास्क ने अपने पक्ष तथा विपक्ष में अनेक आचार्यों के वैयक्तिक मत भी उद्धृत किये हैं। उन में से कुछेक आचार्य तो नैरुक्त प्रतीत होते हैं। यथा—**आग्रायण, औपमन्यव, और्णवाभ,** क्रौष्टुकि, गालव, चर्मशिरा, तैटीकि, शतबलाक्ष, शाकपूणि, शाकपूणि-पुत्र-**स्थौलाष्ठीवि।** कुछ ऐसे शब्दों का जिन्हें शाकपूणि ने अग्नि का पर्याय माना है, **कात्थक्य** ने यज्ञ वा यज्ञ के उपकरण अर्थ किया है। दो और शब्दों का अर्थ यास्क द्यावापृथिवी तथा अहोरात्र करते हैं, परन्तु कात्थक्य उन्हें सस्य और समा (अन्न और वर्ष)

मानते हैं। इससे प्रतीत होता है कि कात्थक्य सम्भवत: याज्ञिक सम्प्रदाय के हैं। इनके अतिरिक्त **औदुम्बरायण, गार्ग्य, वार्ष्यायणि** तथा पदकार शाकल्य के मतों को भी यथास्थान उद्धृत किया गया है। शाकटायन, गार्ग्य और शाकल्य **वैयाकरण** हैं।

ये सब सम्प्रदाय तो ऐसे हैं जो वेद का किसी न किसी शैली से अर्थ करते हैं। निरुक्त में एक पक्ष **कौत्स** का भी दिया गया है। वे वेद मन्त्रों का कुछ भी अर्थ नहीं मानते। निरुक्त १।२३। उनके मत के खण्डन की समाप्ति पर यास्क लिखते हैं—

स्थाणुरयं भारहार: किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।

—निरुक्त १।१८॥

वह स्थाणु है, भारहार है जो वेद पढ़कर उसके अर्थ नहीं जानता।

इससे प्रतीत होता है कि कौत्स वेद के विरोधी नहीं, किन्तु वेद के अर्थ करने के विरोधी हैं। वे सम्भवत: वेद के पाठमात्र में ही पुण्य मानते हैं। ''वेद पढ़कर अर्थ नहीं जानता''—यास्क के इन शब्दों से कोई अन्य परिणाम निकालना तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता है। **कौत्स** ने अपने मत का उपक्रम भी यही कह कर किया है कि यदि निरुक्त का उद्देश्य वेद के अर्थों की प्रतीति कराना है तो निरुक्त का निर्माण निरर्थक है। निरुक्त १।१३। इससे भी यही इङ्गित होता है कि कौत्स वेद के अर्थ करने का विरोध करते हैं, स्वयं वेद का नहीं।

आख्यान-समय

यहाँ "समय" का अर्थ है पक्ष या सम्प्रदाय। यास्क ने इस शब्द का प्रयोग निरुक्त १।११ में नैरुक्त पक्ष को दिखाते हुए इन्हीं अर्थों में किया है। वहाँ नैरुक्त पक्ष को "नैरुक्तसमयः" कहा है।

देवताओं पर विचार करने के अवसर पर निरुक्तकार "आख्यान" का स्वरूप निम्नलिखित शब्दों में निर्धारित करते हैं—

अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः।
यथा यज्ञो यजमानस्य एष चाख्यानसमयः॥ ७।७

देवताओं के आकार के सम्बन्ध में यास्क ने चार पक्षों में विकल्प दिखाया है—एक यह कि वे पुरुषविध अर्थात् चेतन (Personal) हैं। दूसरा यह कि वे अपुरुषविध अर्थात् अचेतन (Impersonal) हैं। तीसरा यह है कि वे उभयविध अर्थात् दोनों प्रकार के हैं। चौथा पक्ष वही है जिसे ऊपर आख्यान-समय भी कहा गया है। वह यह कि देवता स्वयं चेतन हैं और जो अचेतन पदार्थ प्रत्यक्ष दीखते हैं जैसे अग्नि, सूर्य आदि, ये उनके कार्य-स्वरूप हैं। जैसे यजमान चेतन होता है और उस का यज्ञ-जड़, यही अवस्था ज़मीन-आसमान पर खेल रहे इन देवताओं तथा उनकी लीला की है। यास्क की अपनी सम्मति में जड़ महान् यज्ञ का यजमान एक महान् आत्मा है जिस के जड़ देवता अंग प्रत्यंग हैं।

एकस्यात्मनो अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। ७।४

इस स्थल के अतिरिक्त "**आख्यान**" शब्द का प्रयोग निरुक्त में सात और स्थानों पर भी हुआ है—

(१) निरुक्त १०।१० में इस मन्त्र पर विचार किया गया है—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥

—ऋ० २।१२।१

जिस प्रथम मनस्वी देव ने प्रकट होते ही (अन्य) देवों को पराभूत कर लिया, जकड़ लिया, अलंकृत कर दिया। जिसके बल की महिमा यह है कि उसके श्वास से ही जमीन-आसमान काँप उठे, ऐ जनो! वही इन्द्र (बिजली) है।

इस मन्त्र में इन्द्र की स्तुति भूतकालवाची क्रियाओं द्वारा की गई है। देखने से यह कहानी सी प्रतीत होती है। इस पर यास्क कहते हैं—

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता।

अर्थात् अर्थ का साक्षात्कार कर ऋषि को आख्यान के संयोग से (ऋचा में आख्यान का सा वर्णन देख कर वेद-कथित विषय में) प्रीति होती है, आनन्द आता है।

(२) यही बात निरुक्त १०।४६ में कही है—

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।
तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम्[१] ॥

—ऋ० १०।११४।४

निरुक्तकार की सम्मति में यहाँ सुपर्ण (पक्षी) का अभिप्राय इन्द्र अर्थात् बिजली से है। मन्त्र का अर्थ यह किया गया है—

एक पक्षी है। वह समुद्र अर्थात् आकाश में प्रवेश कर जाता है। सारे भुवन अर्थात् ब्रह्माण्ड को देखता है। मैंने भोले (आश्चर्य-चकित) मन से पास से देखा है।

इतना अर्थ कर निरुक्तकार लिखते हैं—

"यह कहते-कहते अर्थद्रष्टा ऋषि की आख्यान के संयोग से (विषय में) प्रीति हो जाती है।"

यहाँ भी निरुक्तकार के शब्द वही हैं जो ऊपर निरुक्त १०।१२ से उद्धृत किये जा चुके हैं। मन्त्र के शेष भाग का फिर अर्थ करते हैं—

वह (सुपर्ण) अपनी माँ को चूम रहा है और उसकी माँ उस को चूम रही है।

मन्त्र में बिजली के चमकने और कड़क को मानो चूमने का बहुत

---

१. एकः सहायवान्। असहायो यः सर्वकार्येषु सहायान्तरं नापेक्षत इत्यर्थः। कोऽसौ? सुपर्णो मध्यमस्थानः। स समुद्रमन्तरिक्षनामैतत्। तदाविवेश आविशति। आविश्य च सः स एव इदं विश्वं सर्वम्। किं पुनस्तत्? भुवनं भूतजातं विचष्टे पश्यतिकर्मायम्। अभिपश्यत्यनुग्राह्यतया। तमेनमेवंरूपं पाकेन मनसा परिपक्वेन मनसाऽहमपश्यं दूरस्थमपि सन्तमन्तितोऽन्तिके सन्निधौ। तं च माता निर्मात्री उदकानां माध्यमिका वाक्। रेळ्हि लिह आस्वादन इत्यस्य रूपम्। आस्वादनेन अत्रोपजीवनमात्रं लक्ष्यते। वृष्टिप्रदानकर्मणि साहाय्येनो-पजीवतीत्यर्थः स उ रेळ्हि मातरम्। उ इति पदपूरणः। स मातरं तामेव माध्यमिकां वाचमुपजीवति नान्यत् किञ्चित्।

अर्थ—वह मध्यमस्थानी विद्युत, जिस को किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं है, अन्तरिक्ष में प्रवेश करता है और इस भूतजात को देखता है। उस दूरस्थ को मैंने परिपक्व मन से समीप से देखा। जलों की माता माध्यमिक कड़क ने उस विद्युत् का आश्रय लिया और उस विद्युत् ने माध्यमिक कड़क का।

सुन्दर आलंकारिक वर्णन किया गया है। यह आलंकारिक—यास्क के शब्दों में आख्यान-संयुक्त—वर्णन ऋषि की प्रीति के लिए हुआ है। अचेतन में चेतन की भावना कवि लोग करते ही हैं। इससे वर्णन में एक अत्यन्त रुचिकर चमत्कार सा पैदा हो जाता है। इसी अद्भुत रस की निष्पत्ति यास्क के मत में वेद की इस वाक्य-रचना द्वारा की गई है।

(३) ११।१८ में कहा है—(जिन अथर्वा आदि को) नैरुक्त मध्यमलोकस्थ देवगण कहते हैं, उन्हें आख्यान में पितर कहा गया है।

मन्त्रों में ''अथर्वाण:'' और ''भृगव:'', ''पितर:'' के विशेषण अथवा विशेष्य हैं। मध्यमलोकस्थ देवगण संसार के पितर ही तो हैं। आख्यान-समय इन्हें वास्तविक ''पितर:'' मानता है, यद्यपि वैदिक आख्यान केवल ''ऋषि'' की ''प्रीति'' के लिए है।

(४) ११।२५ में **''सरमा''** का पाठ मध्यम वाक् अर्थात् बिजली की कड़क के अर्थ में हुआ है। **सरमा** और **पणियों** का संवाद ऋ० १०।१०८।१ से आरम्भ होता है। इस मन्त्र का अर्थ कर निरुक्तकार लिखते हैं—

देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूदे। इत्याख्यानम्।

इन्द्र की भेजी हुई कुतिया (सरमा) का पणि-जाति के असुरों से संवाद हुआ, यह आख्यान है।

बिजली की कड़क को कुतिया की भौंक के स्वरूप में वर्णन करना स्पष्ट आख्यान—आलंकारिक कथा है। आख्यान-समय इस अलंकार को मिटा कर किसी वास्तविक कुतिया की कल्पना करता है। सामाजिक क्षेत्र में सरमा राजदूती अर्थात् राजाज्ञा है। वह राक्षसों से धन छीन कर देवताओं को लौटा देती है।

आकाश में रुका हुआ पानी भी तो बिजली की कड़क के बाद बरस पड़ता है। यह देवताओं का धन है जो कृपण बादलों-वृत्रों ने रोक रखा था।

(५) १२।४१ के अनुसार ''साध्या:'' नैरुक्तों के मत में द्युस्थानीय देवगण हैं, और ''पूर्वदेवयुगमित्याख्यानम्'' आख्यान पक्ष में युग के देवता। मन्त्र इस प्रकार है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

—ऋ० १।१६४।५०

वेद की आख्यान-शैली के अनुसार जिन देवताओं का वर्णन भूतकाल में किया गया है, उन्हें नैरुक्त त्रिकालस्थ देवगण मानते हैं और आख्यानवादी प्राचीन देव-विशेष। बात वही है जो पितरों के प्रकरण में कही गई है। पूर्वकालीन देवगण कहने में एक रस आता है जो आख्यानवाद में विलुप्त हो

जाता है।

(६) ५।२१ में प्रातःकाल का वर्णन ऋ० ११७।१६ के शब्दों में कर यास्क कहते हैं—

आह्वयदुषा अश्विनावादित्येनाभिग्रस्ता तामश्विनौ प्रमुमुचतुः। इत्याख्यानम्।

उषा को सूर्य ने पकड़ लिया। उसने **अश्वियों** को पुकारा। उन्होंने उसे छुड़ा दिया। यह आख्यान है।

प्रातःकाल (उषा) सूर्य के सुनहले पंजे में स्पष्ट पकड़ी गई प्रतीत होती है। फिर किसी की सहायता से छूट कर कहीं विलुप्त सी हो जाती है। एक प्राकृतिक घटना का यह आलंकारिक आख्यान है। उषा वास्तव में जागृति की वृत्ति है। सूर्य के उदय होने से पूर्व यदि उसे अश्वियों अर्थात् सन्धि-वेला के देवताओं को पुकारने में लगा दें तो ठीक, अन्यथा वह जकड़ी सी, निगृहीत सी, रहेगी। इस उषा को बचाने का, स्वस्थ करने का एक ही ढंग है, और वह है सन्ध्या-वन्दन। यही **अश्वियों**=सन्धि के देवताओं की उसके लिए सहायता है।

(७) निरुक्त ११।३४ में ऋ० १०।१०।१४ की व्याख्या पर लिखा है—

यमी यमं चकमे, तां प्रत्याचचक्ष, इत्याख्यानम्।

यमी ने यम से सहवास की इच्छा प्रकट की। **यम ने** उसे अस्वीकार किया—यह आख्यान है।

ऐतिहासिकों के मत में यम और यमी विशेष व्यक्ति हैं। निरुक्त १२।१० में नैरुक्तों का पक्ष इस **ऐतिहासिक** मत से भिन्न दिखाया गया है। वहाँ यम मध्यम-स्थानीय देव को और यमी उसके शब्द को समझा गया है।

बिजली चमकती है। आतुर सा, उत्सुकता-भरा शब्द करती है और फिर झट विलुप्त हो जाती है। आख्यान मत में यह एक कामुकी की सहवास-कामना है जिस का उसके प्रिय ने आदर नहीं किया।

इसी सूक्त का मन्त्र है—

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कः।१०।१०।५

गर्भ में ही हमें सृष्टिकर्ता प्रभु ने पति-पत्नी बनाया था।

अर्थात् हमारा दाम्पत्य-सम्बन्ध विधाता द्वारा पूर्व से ही निश्चित है। यमी की इस उक्ति से पता लगता है कि वह यम की पत्नी है, परन्तु यम को तो अब इस परम सम्बन्ध का पता लग रहा है कि संसार के सभी स्त्री-पुरुष परमेश्वर तथा प्रकृति के पुत्र-पुत्रियाँ हैं। आख्यान मत में, जैसे हम आगे चल कर बतायेंगे, यम और यमी सूर्य और **सरण्यू** की सन्तान हैं। भाष्यकारों

के विचार में ऋग्वेद १०।१०।४ में इस ओर संकेत भी है। इस भावना के पैदा होते ही यम को यमी अपनी बहिन प्रतीत होती है। वह अनायास कहता है—

पा॒पमा॑हु॒र्यः स्वसा॑रं नि॒गच्छा॑त्। १०।१०।१२

वह पापी कहा जाता है जो बहिन से संयोग करे।

वह सम्भवतः अपनी इस उत्कृष्ट दृष्टि ही को लक्ष्य में रखकर कहता है—

आ घा॒ ता ग॑च्छा॒नुत्त॑रा यु॒गानि॒ यत्र॑ जा॒मयः॑ कृ॒ण्वन्नजा॑मि।

—ऋ० १०।१०।१०

(विवाह) उत्तर ऐसे संयोग आते हैं जिन के कारण सम्बन्धियों का (पूर्व-) सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है।

स्मृतियों में आया है—

पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।

कुछ हो, निरुक्तकार की दृष्टि में यह यम-यमी संवाद एक आख्यान है। बिजली के आतुर शब्द को एक कामुकी की रति-कामना का रूप दे दिया गया है। संवाद-संवाद में बहिन-भाई के संयोग का निषेध तथा विरक्त पति की अपनी पत्नी में ही भगिनी-दृष्टि और ऐसे अवसरों पर नियोग का विधान—इत्यादि शिक्षाएँ दे दी गई हैं। वैदिक आख्यान का उद्देश्य भी यही है। परन्तु आख्यान सम्प्रदाय के मत में ये सब सच्ची घटनाएँ हैं।

इन सब प्रसङ्गों के पाठ से ज्ञात होता है कि ''वैदिक आख्यान'' का अभिप्राय किसी नित्य सचाई का, कथानक के रूप में वर्णन करना है। ऐसा वर्णन करते हुए अचेतन में चेतन की भावना भी की जाती है। वेद में इस भावना का प्रयोग ऋषियों—अर्थद्रष्टाओं की ''प्रीति'' के लिए किया गया है। प्रतिदिन हो रहे प्राकृतिक व्यापारों को कथानक का रूप देकर रुचिकर बनाया गया है। इन कथानकों का बीज स्वयं वेद में विद्यमान है। आख्यानवादी इन कथानकों को यथार्थ मानते हैं और कहीं-कहीं आख्यान की पूर्ति अपनी ओर से भी कर लेते हैं। नैरुक्तों का सुझाव इन कथानकों में से, लोक त्रयी में हो रही प्राकृतिक घटनाओं को, उनके प्राकृतिक स्वरूप में ही निथार लेने की ओर है। वेद के वर्णनों में से आलंकारिक कथा का अंश दूर कर दो। शेष सीधा-सादा नैरुक्त अर्थ रह जाता है। उपर्युक्त उदाहरणों में यही बात पाई जाती है। हम संक्षेप से इन उदाहरणों का भाव फिर दोहराये देते हैं—

आख्यान-समय के अनुसार जो पैदा होते ही ज़मीन-आसमान को कँपा देनेवाला देवता है, वह नैरुक्त पक्ष में इन्द्र अर्थात् विद्युत् है। आख्यान पक्ष में जो पक्षी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अवलोकन कर समुद्र में प्रवेश कर जाता है, जिसकी माँ उसे चूमती है और जो स्वयं भी अपनी माँ का प्यार कर-

कर चूम रहा है, वह नैरुक्त मत में विद्युत् का चमकना ही है। आख्यान मत में जो **देव-शुनी** का भयङ्कर शब्द है, वह नैरुक्तों के पक्ष में बिजली की कड़क है। आख्यान शैली के अनुसार जो पुराने देव तथा पितर हैं, वे नैरुक्त शैली में क्रमशः द्युस्थानीय तथा मध्यमस्थानीय प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। आख्यान समय के अनुसार जिस उषा को सूर्य ने पकड़ा और अश्वियों ने छुड़ा दिया। नैरुक्तों के मत में वह उषा केवल प्रकाशित होकर फिर विलुप्त हो गई है। यही अवस्था **यम-यमी** संवाद की है। नैरुक्त पक्ष में यमी कड़क है, यम बिजली। आख्यान-समय के अनुसार कड़क ने अपनी अस्थिर चमक के द्वारा मानो प्रेम-प्राप्ति की इच्छा प्रदर्शित की है, जिसे उसके प्रिय यम ने तिरस्कृत कर दिया है।

❑❑

मन्त्र और उनके ऋषि

पूर्व इसके कि ऐतिहासिक तथा नैरुक्त पक्ष की आपस में तुलना की जाये, हमें आवश्यक प्रतीत होता है कि मन्त्रों तथा उनके ऋषियों के विषय में निरुक्तकार की क्या सम्मति है—इस पर हम यत्किञ्चित् प्रकाश डालते जायें। इस बात के समझ लेने से निरुक्तकार की मन्त्रार्थ करने की विधि के समझने में सुगमता होगी।

मन्त्रों की आवश्यकता क्या है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं—

पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे। १। २

मनुष्य की विद्या अनित्य है (इस में हेर फेर होते रहते हैं) इसलिए वेद में कर्तव्य (ज्ञान अथवा पदार्थ-ज्ञान) से सम्पन्न मन्त्रों का (प्रकाश हुआ है)।

जब मन्त्रों के प्रकाश का उद्देश्य ही मानवीय ज्ञान की अनित्यता का उपाय करना है तो मन्त्र-समुदाय स्वयम् अवश्य नित्य होगा। इन शब्दों से निरुक्तकार मन्त्रों को स्पष्ट नित्य ज्ञान-भाण्डार स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

ऋषियों का मन्त्रों से क्या सम्बन्ध है—इस विषय की मीमांसा भी निरुक्त में यत्र-तत्र की गई है। ''ऋषि'' शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—

ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वानर्षत् त ऋषयोऽभवन् तदृषीणामृषित्वम्। नि० २। ११

''ऋषि'' शब्द की व्युत्पत्ति दर्शनार्थक धातु से होती है। औपमन्यव का मत है कि ऋषि मन्त्रद्रष्टा को कहते हैं। इसमें ब्राह्मण का यह वचन प्रमाण है कि इन्हें तपस्या करते हुए स्वयम्भू वेद का दर्शन हुआ, इस लिए ये ऋषि हुए। यही ऋषियों का ऋषित्व है।

औपमन्यव नैरुक्त सम्प्रदाय के एक प्रामाणिक आचार्य हैं। उनकी सम्मति का उल्लेख यास्क अनेक स्थानों पर करते हैं और उसे पूरा आदर देते प्रतीत होते हैं। आचार्य औपमन्यव के विचार की पुष्टि में दिया गया ब्राह्मण का प्रमाण विशेष विचार करने योग्य है। उस में वेद को ''स्वयम्भू ब्रह्म'' कहा गया है और उस का द्रष्टा होने में ही ऋषियों का ऋषित्व स्वीकार किया गया है। ऋषि वेद के रचयिता नहीं हैं, केवल द्रष्टा हैं—इस बात का इससे अधिक स्पष्ट उल्लेख नहीं हो सकता है।

अन्यत्र ''निरुक्त'' के निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा है—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः।

तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः।१।२०

धर्म का साक्षात्कार करनेवाले ऋषि हुए। उन्होंने अवर-अपने से पीछे के अथवा छोटे दर्जे के लोगों को, जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार नहीं किया था, उपदेश द्वारा मन्त्र प्रदान किये।

ब्राह्मण में जिसे स्वयम्भू ब्रह्म कहा था, उसे यास्क धर्म कहते हैं। मीमांसा शास्त्र में धर्म का लक्षण किया है—

चोदनालक्षणो धर्मः।

धर्म वह है जिसकी प्रेरणा वेद द्वारा हो।

इससे ''धर्म'' और ''मन्त्र'' एक सिद्ध होते हैं। मन्त्र का तथा धर्म का दर्शन एक ही चीज है। जिन्हें औपमन्यव आचार्य ने ''स्तोम'' नाम से पुकारा था, उन्हें निरुक्तकार मन्त्र कहते हैं। बात वही है कि ऋषियों को वेद का दर्शन होता है और वे आगे आनेवाली सन्तति को उस का उपदेश करते हैं।

मन्त्रों के विषय का प्रतिपादन करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं कि कहीं उन में स्तुति पाई जाती है, कहीं प्रार्थना, कहीं शाप, कहीं दशा-वर्णन, कहीं विलाप और कहीं निन्दा तथा प्रशंसा। भिन्न-भिन्न प्रकार के इन विषयों में ऋषि की स्थिति केवल द्रष्टा की होती है। यास्क कहते हैं—

एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति।७।३

इस प्रकार स्तुति आदि भिन्न-भिन्न अभिप्रायों से युक्त मन्त्रों का ऋषियों को दर्शन होता है।

मन्त्र में वक्ता किसी को बनाया गया हो, देवता को या उसके उपासक को। ऋषि, मन्त्र का द्रष्टा ही होगा। वह मन्त्र का प्रणयन नहीं करता, किन्तु बना बनाया मन्त्र उसके सम्मुख आता है और वह उस का प्रवचन करता है।

इस लिए जब कहा जाता है कि—

अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवताः स्तौति।७।१३

भिन्न-भिन्न कर्मों से ऋषि देवताओं की स्तुति करता है; या

अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः।७।४

पदार्थों के अनेक कारण होने से भी ऋषि (अनेक देवताओं की) स्तुति करते हैं—ऐसा कहा जाता है।

इन स्थलों पर स्तुति, ऋषियों द्वारा दृष्ट ही समझनी चाहिए। यही अवस्था—

न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः। ऋ० ८।६१।११

का अर्थ करते हुए यास्क के इस कथन की है—

अस्त्यस्मासु ब्रह्मचर्यमध्ययनं तपो दानकर्मेत्यृषिरवोचत्। ६। २५

हम में ब्रह्मचर्य, अध्ययन, तप तथा दान सभी कर्म विद्यमान हैं—ऐसा ऋषि ने कहा।

यहाँ ऋषि की उक्ति का अर्थ दर्शन के अनुकूल उक्ति है। ऐसे ही नि० १०। ३२ में आया है—

अर्चन् हिरण्यस्तूप ऋषिरिदं सूक्तं प्रोवाच। १०। ३२

अर्चना करते हुए हिरण्यस्तूप ने इस सूक्त (ऋ० १०। १४९) का प्रवचन किया।

ऋषियों का प्रवचन उनके दर्शन के अनुसार ही होता है। नि० ६। २५ में भी "अवोचत्" का अर्थ "प्रावोचत्" ही करना चाहिये। ऋ० १०। १४९ का ऋषि **हिरण्यस्तूप** नहीं, अर्चन् हैरण्यस्तूप है। 'हिरण्यस्तूप'=ज्योतिः-पुञ्ज—मन्त्र में पठित है। ऋषि ने इस शब्द को देख कर अपना नाम हैरण्यस्तूप=हिरण्यस्तूपवाला रखा है; ऐसा प्रतीत होता है। मन्त्र-पठित पदों के अनुकूल ऋषियों के नामकरण की इस प्रथा का स्पष्टीकरण हम आगे चल कर अधिक विस्तार से करेंगे। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि ऋषि की उक्ति का अर्थ दर्शनानुकूल उक्ति है।

इसी प्रकार जहाँ "**कुत्स**" तथा "कारु" शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है—

(१) ऋषिः कुत्सो भवति। कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः। ३। ११

कुत्स का अर्थ ऋषि होता है। कृ=कु+ष्टुज्=त्स। वह स्तोमों का कर्त्ता है—ऐसा औपमन्यव का मत है।

(२) कारुरहमस्मि कर्त्ता स्तोमानाम्। ६। ६

वहाँ भी "कर्त्ता" का अर्थ आविष्कर्त्ता या साक्षात्कर्त्ता करना चाहिये। हम ऊपर औपमन्यव के मत से ही 'ऋषि' शब्द का अर्थ "स्तोमान् ददर्श" कर चुके हैं। अब उसी के किये निर्वचन "कर्त्ता स्तोमानाम्" का अर्थ स्तोमों का रचयिता करना कदापि संगत न होगा। कर्त्ता का अर्थ साक्षात्कर्त्ता या आविष्कर्त्ता ही करना युक्ति-संगत है।[१]

इस विषय में अब एक ही वक्तव्य रह जाता है। वह यह कि यदि ऋषियों ने मन्त्रों की रचना स्वयं नहीं की तो कहीं-कहीं उनके अपने नाम मन्त्रों में कैसे आ गये हैं? उदाहरणतया "**कुत्स**" शब्द स्वयं ऋ० ४। १६। ११ में आया हुआ है। इसी प्रकार त्रित ऋ० १। १०५ का ऋषि है और "त्रित"

१. नीति के एक प्रसिद्ध श्लोक में आता है—"शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक"। यहाँ "कृतविद्य" का अर्थ "अधीतविद्य" या "अभ्यस्तविद्य" है।

शब्द ही इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में पठित है। प्रश्न यह है कि क्या ये नाम मन्त्रों में इन्हीं नामोंवाले ऋषियों द्वारा इन मन्त्रों के देखे जाने के पूर्व पठित थे अथवा पीछे से सन्निविष्ट हुए? पीछे से मिलाये गए हों तो मन्त्र ऋषियों के बनाये हुए सिद्ध हो जाते हैं। और यदि पहले से ही पठित हों तो एक और समस्या खड़ी हो जाती है। वह यह कि नित्य मन्त्रों में अनित्य नामों का काम ही क्या है?

त्रित द्वारा दृष्ट सूक्त के सम्बन्ध में यास्क लिखते हैं—

त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ। ४। ६

कूप में पड़े हुए त्रित को इस सूक्त के दर्शन हुए।

"**त्रित**" शब्द के इस सूक्त में पठित होने पर भी यास्क का मत यही है कि **त्रित** को इस सूक्त का भान हुआ। वह सूक्त का प्रणेता नहीं, द्रष्टा है। ऐसी अवस्था में क्या सूक्त की नित्यता इस अनित्य नाम के आ जाने से बाधित न होगी?

जैसे हम ऊपर यास्क के अपने शब्दों में दिखा चुके हैं, निरुक्तकार के मत में मनुष्य की विद्या अनित्य है। इस अनित्यता का उपाय ही मन्त्रों द्वारा किया गया है। इस लिए यास्क के मत में मन्त्र नित्य होने चाहिएँ तो इन नित्य मन्त्रों में अनित्य नाम क्योंकर पढ़ा गया? यास्क के वचनों की सङ्गति एक ही प्रकार से हो सकती है। वह यह कि "त्रित" नाम अनित्य समझा ही न जाये। आचार्य ने स्वयम् इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव। ४। ६

त्रित अत्यन्त मेधावी हुआ।

स्वयं वेद में ही कहा है—

त्रि॒तः कूपेऽव॑हितो दे॒वान् ह॑वत ऊ॒तये॑। ऋ० १। १०५। १

(संसार)–कूप में सावधान हो गया त्रित=मेधावी पुरुष—रक्षा के लिए

रघुवंश के निम्नलिखित श्लोक में "मन्त्रकृतः" का अर्थ **मल्लिनाथ** ने "मन्त्राणां स्रष्टुः" के विकल्प रूप में "मन्त्राणां प्रयोक्तुः" भी किया है।

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः॥ १। ६१

हमारा अभिप्राय न तो यहाँ मन्त्रों द्वारा तीरों के निराकरण से है न वसिष्ठ के मन्त्रकृत् होने से। **कालिदास** ने "मन्त्रकृतः" शब्द का प्रयोग किया है और उसका अर्थ मल्लिनाथ "मन्त्रों का प्रयोक्ता" भी करते हैं। हमें इस उदाहरण से इतना ही सिद्ध करना है कि कृञ् धातु का प्रयोग 'सृजन' के अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी हो जाता है। **दुर्गाचार्य** भी निरुक्त ६। ५ पर टीका करते हुए "कर्त्ता स्तोमानाम्" का अर्थ "स्तुतीनाम् प्रयोक्ता" करते हैं।

देवताओं को पुकारता है।

वेद का शब्द था "अवहित" अर्थात् सावधान। यह एक प्रकार से "**त्रित**" शब्द की व्याख्या थी। आचार्य ने वेद के इस इंगित को भाँप कर त्रित का अर्थ किया "तीर्णतमो मेधया" अर्थात् मेधा द्वारा (संसार) कूप को पूरा तर जानेवाला, दूसरे शब्दों में पूर्ण विवेकी—सावधान। सूक्त के सम्बन्ध में ऐतिहासिक पक्ष दर्शाना था। इसलिए "बभूव" क्रिया जोड़ दी गई, परन्तु ऐतिहासिक कथा में भी नैरुक्त अर्थ की झांकी साथ-साथ मिलती जाये, इसलिए निर्वचन विशेष नहीं, सामान्य कर दिया। त्रित मेधा द्वारा तर गया। तभी तो यह त्रित हुआ। नाम सार्थक है। जो भी मेधा द्वारा तरेगा, वह "त्रित" कहलायेगा। इस प्रकार इस शब्द की नित्यता बनी रहती है[1]। प्रतीत यह होता है कि ऋषि होने से पूर्व त्रित का कोई और नाम था। इस मन्त्र के उपदेश को अपने में मूर्त कर ऋषि ने अपना नाम त्रित रख लिया। वह नाम वेद में तो नित्य अर्थात् सामान्य संज्ञा के रूप में बना रहा, परन्तु ऋषि ने उसे अपना नाम बना कर विशेष संज्ञा का रूप भी दे दिया। ऐसे नाम परिवर्तन की घटनाएँ इस समय भी प्राय: होती रहती हैं। एक मित्र ने इसका एक बड़ा सुन्दर उदाहरण श्री स्वामी **श्रद्धानन्द** जी का सुझाया है। स्वामी जी का पहला नाम **मुन्शीराम** था। इसी नाम से उनके जीवन का बहुत बड़ा भाग व्यतीत हुआ। तब भी वे प्रत्येक काम में श्रद्धा पर बहुत बल दिया करते थे। संन्यासी होने पर उन्हों ने अपना नाम ही श्रद्धानन्द रख लिया। इसी प्रकार यदि किसी ने "**त्रित**" होने अर्थात् संसार-कूप से तर जाने—मेधया तीर्णतम हो जाने—पर अपना त्रित रख लिया हो तो उस में आश्चर्य की क्या बात है[2] ? जैसे श्रद्धानन्द नाम में समय गुज़रने पर "**मुन्शीराम**" नाम का बिलकुल लोप हो गया। ऐसे ही "त्रित" नाम में भी ऋषि के पूर्व नाम का लोप हो जाना

---

१. निरुक्त ४।६ में—नित्यपक्षे त्रितो नाम शुक्लशब्दलक्षण: कर्मपाशैस्त्रि: स्वर्ग-नरकमर्त्येषु बद्ध: कश्चित् क्षेत्रज्ञ:। कर्मज्ञानसमुच्चयाभावादपवर्गमनवाप्नुवन् नरके घटियन्त्रघटितसंसारे बम्भ्रम्यमाण: परिदेवयाञ्चक्रे। (स्कन्दस्वामी)

नित्य पक्ष में त्रित अर्थात् शुक्ल (पुण्य) शब्द से कहे जानेवाले कर्मपाशों से—स्वर्ग, नरक वा मर्त्य लोकों में तीन प्रकार से—बद्ध हुआ-हुआ कोई क्षेत्रज्ञ=आत्मा, कर्म और ज्ञान के एकत्रित न होने के कारण मोक्ष को न प्राप्त करता हुआ नरक में—घटीचक्र (रहट) रूप संसार में—इधर उधर भटकता हुआ विलाप करता था।

२. **भवभूति** संस्कृत का प्रसिद्ध कवि हुआ है। पहले उसका नाम क्या था—इसका किसी को ज्ञान नहीं। एक पद्य में "भवभूति" शब्द का प्रयोग बहुत सुन्दर होने से कवि का नाम ही भवभूति प्रसिद्ध हो गया। **कालिदास** की दी हुई "दीपशिखा" की उपमा अतीव उत्कृष्ट होने के कारण **कालिदास** को

साधारण सी बात है। इस स्थापना के अनुसार ऋषियों ने वेद में आये नित्य अर्थात् सामान्यवाची नामों को अपने लिए अंगीकार तो अवश्य किया है, हां! कोई अपना अनित्य अर्थात् विशेषवाची नाम संहिता में समाविष्ट नहीं किया। यास्क द्वारा किया गया निर्वचन नामों की सामान्यता का केवल परिपोषक ही नहीं, किन्तु उनके सामान्य से विशेष हो जाने के इतिहास पर भी खूब प्रकाश डालता है। इस बात की विवेचना हम अगले अध्यायों में करेंगे।

देवताओं और मन्त्रों के दर्शन के विषय में एक अत्यन्त मनोरञ्जक घटना आचार्य शाकपूणि की वर्णन की गई है। निरुक्तकार के अपने शब्दों में:—

शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे। सर्वा देवता जानामीति। तस्मै देवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव। तान्न जज्ञे। तां पप्रच्छ। विविदिषाणि त्वेति। साऽस्मा एतामृचमादिदेश। एषा मद्देवतेति। २।८

शाकपूणि ने संकल्प किया कि मैं सब देवताओं को जानता हूँ। उसके आगे दो रूपोंवाली एक देवता प्रादुर्भूत हुई। वह उसे न जान सका। उस ने उस देवता से कहा—मैं तुझे जानना चाहता हूँ। उस ने उसके सम्मुख यह ऋचा (१।१६४।२९) रख दी और कहा—इस मन्त्र की देवता मैं हूँ।

शाकपूणि सृष्टि के आरम्भ के नहीं, किन्तु पीछे के ऋषि हैं। उन्हें भी मन्त्रों का तथा उनके देवताओं का दर्शन होता है। ऐसे ही ऋषियों में यास्क अपनी भी गणना करते प्रतीत होते हैं। "अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।"—इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए वे "नूतनैः" का अर्थ करते हैं—

अस्माभिश्च नवतरैः। ७। १७

हम नये, ऋषियों द्वारा भी (अग्नि की स्तुति की जाती है)।[१]

दूसरे शब्दों में यास्क के मत में नित्य स्वयम्भू ब्रह्म का ऋषियों पर प्रकाश होता है। उसमें चाहे स्तुति की गई हो, चाहे प्रार्थना और चाहे शाप

"दीपशिख कालिदास" कहते हैं। इसी प्रकार यदि किसी ऋषि को वेद का कोई शब्द बहुत भा गया हो, वह उसका प्रवचन अधिक करता हो, और वह स्वयम् अथवा जनता उसी शब्द से उसे पुकारने लग जाये तो आपत्ति की क्या बात है? भवभूति की तरह उसका पूर्व नाम विस्मृत भी हो सकता है।

१. **ऋषि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** के प्रतिज्ञा विषय में अपने भाष्य को अनृषिकृत ग्रन्थों से स्पष्ट अलग कर जाते हैं। उनका कहना है कि—

पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्च। पृ० ३३६

अर्थात्—यदि मैं भी शतपथादि में वर्णित कर्मकाण्ड का विस्तार अपने भाष्य में करूँ तो ऐसा करने से पिष्टपेषण होगा। जो दोष अनृषिकृत ग्रन्थों में पाया जाता है, वह मेरे भाष्य पर भी लागू होगा।

इससे, स्वामी जी ने अपना ऋषित्व इंगित किया है, ऐसा प्रतीत होता है।

आदि दिये गये हों, ऋषि मन्त्र का द्रष्टा होता है, रचयिता नहीं। ऋषि की स्तुति या पुकार उसकी अपनी नहीं होती, किसी अलौकिक शक्ति द्वारा उस से कराई जाती है। मन्त्र-दर्शन का यह प्रवाह सृष्टि के आरम्भ से ले कर अब तक चला आया है, जहाँ किसी मन्त्र में ऋषि का नाम पड़ा हो, निरुक्तकार के मत में वह सामान्य नाम है जिसे ऋषि ने अपने लिए विशेष संज्ञा के रूप में पीछे से स्वीकार कर लिया है। यह प्रवृत्ति कभी-कभी यहाँ तक पहुँची है कि सूक्त अथवा मन्त्र में कहे गये भाव को किसी प्राणि-विशेष में घटा कर ऋषियों ने उक्त प्राणी अथवा प्राणि-समूह का नाम ही अपने लिए अंगीकार कर लिया है। जैसे ऋ० ८। ६७ में मनुष्यों की अवस्था जाल-बद्ध मछलियों की सी चित्रित की गई प्रतीत होती है। वे छुटकारे के लिए देवताओं को अत्यन्त आर्द्रभाव से पुकारते हैं। इस सूक्त का ऋषि है "मत्स्यः सांमदः"। विकल्प में "मान्यो मैत्रावारुणिः" भी दिया गया है। तीसरा विकल्प है "बहवो मत्स्या जालबद्धाः"। इसका अभिप्राय स्पष्ट है। निरुक्तकार इसी बात को सामने रख कर लिखते हैं—

मत्स्यानां जालमापन्नानामेतदार्षं वेदयन्ते। ६। २७

यह ऋषि-कर्म जाल-बद्ध मत्स्यों का बताया जाता है।

ऋषि ने अपना नाम मत्स्य रखा। ऐतिहासिकों ने कहा कि यह सूक्त जालबद्ध मत्स्यों द्वारा दृष्ट है। "वेदयन्ते" का प्रयोग निरुक्तकार ने एक दो और स्थलों पर भी किया है। वहाँ भी संकेत किसी ऐसी ही कल्पना की ओर है। यथा—

ऋषेरक्षपरिद्यूनस्यैनमार्षं वेदयन्ते। ९। ७

जुए से संतप्त ऋषि द्वारा दृष्ट है—ऐसा इस सूक्त के सम्बन्ध में कहते हैं।

ऋ० १०। ३४ में एक जुआरी के सन्ताप का मर्मवेधी दृश्य खेंचा गया है। इस सूक्त का ऋषि "**कवष ऐलूष**" अथवा **मौजवान्** अक्ष है। सम्भव है, वह पहले जुआरी रहा हो। पीछे सन्ताप द्वारा विरक्त हो ऋषि बन गया हो। निरुक्तकार की सम्मति में ऐसा होना आवश्यक नहीं। "वेदयन्ते" क्रिया का प्रयोग कर वे इसे किंवदन्ती बताते हैं।

ऐसे ही ऋ० १। १७९ में एक ऐसी पत्नी की सहवास-इच्छा का वर्णन है जिस का पति ऋषि है। वह स्तुति में लगा रहता है। उस "रुधतः"—यास्क के शब्दों में "संरुद्धप्रजननब्रह्मचारी"—के इस व्रत के कारण **ऋषि-पुत्री** विलाप कर रही है, ऐसा कहते हैं—

नदनस्य मा रुधतः काम आगमत्।

संरुद्धप्रजननस्य ब्रह्मचारिणः, इत्यृषिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते।

५.२

इस सूक्त के देवता "दम्पती" हैं। इसलिए "**ऋषि-पुत्री**" की कल्पना ऊपर की है। इसे भी यास्क "वेदयन्ते" कहते हैं। इसी "वेदयन्ते" के कारण हम ने "**नद**" के इस प्रकरण को यहाँ छेड़ा है। अन्यथा इसका स्थान तो ऐतिहासिक पक्ष के विकास के दूसरे प्रकार के अन्तर्गत होता।

ऋषि-प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व हम एक और शंका का निवारण भी यहाँ कर जाना चाहते हैं। ऋ० १।४५।३ में प्रियमेधवत्, अत्रिवित्, और अंगिरस्वत्— ये तीन शब्द पड़े हैं। यास्क ने "प्रियमेधः" की एकवचन में निरुक्ति की है। इससे यह समझा जाता है कि यह विशेष नाम है। यह कल्पना अशुद्ध है क्योंकि प्रथम तो "वत्" निपात के जितने उदाहरण ऊपर निरुक्त में दिये गये हैं, उन सब में उपमान बहुवचनान्त दिखाया गया है। जैसे—ब्राह्मणवत्, वृषलवत्—ब्राह्मणा इव, वृषला इवेति। ३।१६। दूसरे, वेद के इसी सूक्त में अगले ही मन्त्र में "प्रियमेधाः" बहुवचनान्त पठित है। इसलिए आचार्य का एकवचन जातिपरक ही मानना चाहिये। इसी प्रकरण में पठित "प्रस्कण्व" शब्द पर आगे चल कर ऐतिहासिक सम्प्रदाय की विवेचना करते हुए विचार किया जाएगा।

नोधा ऋषिर्भवति नवनं दधाति। ४।१६

ऋषिर्नदो भवति नदतेः स्तुतिकर्मणः। ५।२

अर्थात् नोधा ऋषि होता है, क्योंकि यह स्तुति को धारण करता है।

नद ऋषि होता है। इस की व्युत्पत्ति स्तुत्यर्थक नद धातु से हुई है।

इन स्थलों पर नोधा तथा नद को ऋषि-विशेष मानना भी स्पष्ट भूल है क्योंकि निरुक्त के इन प्रकरणों में वर्त्तमानकालिक "भवति" क्रिया प्रयुक्त हुई है, जो इन नामों के सामान्य होने की ओर स्पष्ट संकेत कर रही है। यास्क को जहाँ ऐतिहासिक अर्थ करने होते हैं, वहाँ वे हमेशा "बभूव" आदि भूतकालवाची क्रियाओं का प्रयोग करते हैं। और जहाँ विशुद्ध नैरुक्त अर्थ कर के सामान्यवाची संज्ञाएँ ही दिखानी होती हैं, वहाँ सदैव "भवति" का प्रयोग करते हैं। यास्क की इस शैली से निरुक्त का कोई साधारण पाठक भी अपरिचित नहीं हो सकता।

लोधं नयन्ति पशुं मन्यमानाः। ऋ० ३।५३।२३

वेद के इस वाक्य का अर्थ यास्क ने इस प्रकार किया है—

(न) **लुब्धमृषिं नयन्ति पशुं मन्यमानाः।** ४।१४

लुब्ध (अर्थात्) ऋषि को पशु मान कर (सैनिक लोग निगृहीत कर) ले नहीं जाते।

यहाँ लोध का अर्थ आचार्य ने लुब्ध कर दिया है, अर्थात् स्तुतिलुब्ध, तपोलुब्ध। यह शब्द उनकी सम्मति में ऋषि का पर्याय है। कोई नाम-विशेष

अभिप्रेत होता तो लोध के स्थान में ''लुब्ध'' का प्रयोग न किया जाता। फिर वेद-चतुष्टय में लोध नाम का कोई ऋषि है ही नहीं। इस प्रकार लोध भी यास्क की दृष्टि में सामान्य नाम ही सिद्ध होता है, किसी विशेष ऋषि का नाम नहीं।

इन सब स्थलों की ऊपर की गई समीक्षा पश्चात् पाठक इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि यास्काचार्य सम्भवत: वेद में किसी ऋषि-विशेष का नाम स्वीकार नहीं करते। ऐसा करना मन्त्रों की नित्यता के सम्बन्ध में उनके अपने मूल सिद्धान्त के विरुद्ध होगा।

निरुक्त १०।४२ के पाठ से एक और बात का भी पता लगता है। ऋ० १।१२९।६ में कुछ एक वाक्यों को फिर-फिर दोहराया गया है। इस पर निरुक्तकार कहते हैं—

अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते। १०।४२

तत्परुच्छेपस्य शीलम्। परुच्छेप ऋषि:।

यह परुच्छेप का शील है। परुच्छेप इस मन्त्र का ऋषि है।

परुच्छेप ने इन मन्त्रों के प्रवचन में अभ्यास से काम लिया—यह तो उसके दर्शन का परिणाम है। मन्त्रों में अभ्यास विद्यमान था। वही प्रवक्ता के प्रवचन में देखा गया। परुच्छेप का यह शील उसके दर्शन के अनुकूल ही था, क्योंकि ऊपर कह चुके हैं—

उच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति।

ऋषियों का मन्त्र-दर्शन भिन्न-भिन्न तात्पर्यों के साथ होता है।

अभ्यास भी मन्त्र के तात्पर्य का एक अंश ही है। उस से अर्थ ही तो परिपुष्ट हुआ है। अर्थ और अभिप्राय एक ही चीज़ है।

परुच्छेप के नाम का निर्वचन सम्भवत: उसके इस स्वभाव को दृष्टि में रख कर इस प्रकार किया गया है—

पर्ववत् शेप:, परुषि परुषि शेपोऽस्येति वा। १०।४२

जिस का वीर्य अंगोंवाला है अर्थात् जिस के अंग-अंग में वीर्य है।

ऐसे पुरुष की उक्ति में बल होना स्वाभाविक है। उस का तो अंग-अंग बोल रहा होता है।

❑❑

ऐतिहासिक पक्ष का आख्यान द्वारा विकास

१. वृत्र का इतिहास

निरुक्तकार ऐतिहासिक सम्प्रदाय को बहुत महत्त्व देते हैं। सम्भव है, उनके समय में इसका प्रचार बहुत अधिक हो। इस सम्प्रदाय द्वारा किया गया वेदार्थ निरुक्त के आरम्भ से अन्त तक चलता है। कहीं तो "इति नैरुक्ताः, इत्यैतिहासिकाः" कह कर ऐतिहासिक पक्ष का नैरुक्त पक्ष से स्पष्ट भेद दिखा दिया गया है, और कहीं "तत्रेतिहासमाचक्षते" कह कर उस मत की ओर संकेत किया है। कहीं-कहीं बिना "इतिहास" अथवा "ऐतिहासिक" शब्द का स्पष्ट प्रयोग किये, कोई कथा कह दी है, और उसके आगे लिखा है—"तदभिवादिन्येषर्ग् भवति"। वहाँ भी ऐतिहासिक मत ही को दिखा रहे होते हैं। नैरुक्त अर्थ ऐसी अवस्थाओं में निर्वचन से स्पष्ट हो जाता है। निरुक्त का प्रसिद्ध "तत्को वृत्रः" स्थलों जहाँ ऐतिहासिकों और नैरुक्तों के पारस्परिक भेद को स्पष्ट करता है, वहाँ उस से ऐतिहासिक पक्ष के उद्भव पर भी खूब रोचक ढंग से प्रकाश पड़ता प्रतीत होता है।

निरुक्तकार कहते हैं—

तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिर आपः। २। १६

वृत्र कौन है ? नैरुक्तों के मत में मेघ। ऐतिहासिकों के मत में त्वष्टा का पुत्र असुर-विशेष।

नैरुक्तों और ऐतिहासिकों के दृष्टिकोण में जो भेद है वह इसी एक उदाहरण से स्पष्ट है। जो ऐतिहासिकों के मत में एक विशेष ऐतिहासिक व्यक्ति का नाम है, वह नैरुक्तों के मत में एक सामान्य संज्ञा है, जिस का संज्ञी आज भी विद्यमान है कल भी विद्यमान रहेगा। नैरुक्तों की दृष्टि में मन्त्र नित्य हैं। उन में अनित्य घटनाओं का वर्णन होना असम्भव है। यह ऐतिहासिक पक्ष किस प्रकार विकसित हुआ। निरुक्तकार कहते हैं:—

जल (मेघ) तथा ज्योति (बिजली) के मेल से वर्षा होती है। (इस मेल में संघर्ष तथा गर्जन आदि क्रियाएँ भी होती हैं)। इसका वर्णन आलंकारिक भाषा में युद्ध का सा किया जाता है। मन्त्रों के वर्णनों तथा ब्राह्मणों के

अर्थवादों में तो ऐसे प्रकरणों में "अहि" शब्द आता है। अहि ने अपने शरीर का बढ़ा कर जल के निकासों को रोक लिया। उसके मारे जाने पर जल बह निकला।

"अहि" शब्द निघण्टु में मेघ के नामों में पठित है। उस का दूसरा अर्थ साँप भी है। इस कथानक पर यास्क कहते हैं—

"तदभिवादिन्येषर्ग् भवति"। २। १७

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार॥[1]

—ऋ० १। ३२। ११

दासपत्नीः दासाधिपत्न्यः। दासो दस्यतेः। उपदासयति कर्माणि। अहिगोपा आतिष्ठन्नहिना गुप्ताः। अहिः अयनात्, एति अन्तरिक्षे। अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव। निर्ह्रसितोपसर्गः। आहन्तीति। निरुद्धा आपः पणिनेव गावः। पणिर्वणिग् भवति। पणिः पणनात्। वणिक् पण्यं नेनेक्ति। अपां बिलमपिहितं यदासीत्। बिलं भरं भवति बिभर्तेः। वृत्रं जघ्निवान् अपववार तत्। वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्त्ततेर्वा, वर्धतेर्वा। यदवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्त्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते।

इस कथानक को कहनेवाली यह ऋचा है—जलधाराएँ कर्मनाशक अहि के आधिपत्य में आ कर छिपी तथा रुकी खड़ी थीं, जैसे गौएँ बनिये के आधिपत्य में। (इन्द्र ने) वृत्र को मार कर जलधाराओं का जो मार्ग बन्द था उसे खोल दिया।

---

१. दासः कर्मकरः श्रान्त उपक्षीणशक्तिः, तं वीतश्रमव्यावृत्ति-करणेन पालयन्तीति दासपत्न्यः। अथवा दासो मेघः, तस्य पालयित्र्यः, ताभिर्हि मेघो भवति, तत्कृतं तस्य मेघत्वमित्यर्थः। अहिगोपाः-अहिर्मेघो गोपायिता यासां ताः। अतिष्ठन् तिष्ठन्ति, तेन निरुद्धा आपः पणिनेव वणिजेव विक्रयार्थे वीथ्यादौ गावः, तासामपां निर्गमबिलमपिहितं घट्टितं यदासीत्, वृत्रं मेघं जघन्वान्, अप तद्ववार अपावृतवान् तदिन्द्रः। (स्कन्दस्वामी)

अर्थ—दासपत्नीः=दास अर्थात् कार्य करनेवाला, थका हुआ, जिसकी शक्ति क्षीण हो गई है; उसकी थकावट को दूर कर के उस का पालन करनेवाले। अथवा दास नाम मेघ का है उसकी रक्षा करनेवाले (जल)। उन्हीं से तो मेघ बनता है या उन्हीं से उस में मेघत्व आता है। अहिगोपाः=अहि नाम मेघ का है वह जिन का रक्षक है ऐसे जल मेघ द्वारा ऐसे रुके खड़े थे जैसे बनिये ने बाजार में गौओं को बेचने के लिए रोक रखा हो। उन जलों का निर्गम-स्थान बन्द पड़ा था। इन्द्र ने वृत्र को मार कर उस को खोल दिया।

आगे निर्वचन दिये हैं। दास का अर्थ किया है कर्मनाशक। **अहि** का अर्थ किया है—अन्तरिक्ष में चलनेवाला अर्थात् मेघ। साँप अर्थ में, गति करनेवाला, काटनेवाला, आघात करनेवाला—यह निर्वचन किया है। वृत्र का अर्थ किया है—ढकनेवाला, होनेवाला, बढ़नेवाला। ये सब सामान्य संज्ञाएँ हैं। किसान अथवा ग्वाला आकाश में बादल घिरे हुए देखता है, परन्तु वे बरसते नहीं। उसके हृदय में मेघ के प्रति रोष उठता है। जल उस का ऐसा ही धन है जैसे गौएँ। जैसे गौओं को बनिये ने कुर्क करा लिया हो वैसे ही बादल ने पानी रोक लिया। आज उसके गोधन का अधिपति "दास" हो रहा है, जो कृषि-कर्म का विघातक है। लो! बिजली चमकी। बाड़े के दरवाज़े पर—जलधाराओं के सोते पर—जो साँप सा बैठा था उस पर इन्द्रवज्र पड़ा। गौएँ बाहर आ गईं। बूँदें टप-टप गिरने लगीं।

इस आह्लादकारक घटना का वर्णन वेद ने आलंकारिक भाषा में किया। इस वर्णन-शैली का नाम, जैसे हम किसी पूर्व अध्याय में दिखा चुके हैं, आख्यान है। **आख्यान** में "**अहि**" शब्द आया था। ऋषि की "प्रीति" के लिए यहाँ भूतकाल का प्रयोग कर एक प्राकृतिक घटना को कथानक का रूप दे दिया गया। वेद की इस शैली को ब्राह्मण ने और आगे बढ़ाया। वेद में वर्णन था, ब्राह्मण में वाद (अर्थवाद) हो गया। वहाँ वृत्र के विषय में कहा—यदवृणोत्, यदवर्त्तत, यदवर्धत=क्योंकि उस ने ढका, वह वर्त्तमान हुआ। वह बढ़ा, तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्=इसी से वह वृत्र हुआ। सभी निर्वचन भूतकाल-वाची हैं। ऐतिहासिक इससे एक क़दम आगे बढ़ता है। वह इस वर्णन को "उपमार्थ"—आलंकारिक न मान कर वास्तविक मान लेता है। मन्त्र तथा ब्राह्मण में तो वह अहि था। इतिहास में वह एक असुर-विशेष हो गया। ऐतिहासिक पक्ष के अपने उद्भव का यह कैसा रोचक इतिहास है। निरुक्तकार ब्राह्मण के भूतकाल को छोड़ देते हैं। ब्राह्मण ने कहा था—

यदवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति, यदवर्त्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति, यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति।

निरुक्तकार ने कहा—

वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्त्ततेर्वा, वर्धतेर्वा।

भूतकाल से इतिहास की सृष्टि हुई थी। उस से नित्य मन्त्र में अनित्य घटना का प्रवेश हुआ था। निरुक्तकार ने निर्वचन वही किया, परन्तु उस का रूप बदल कर मन्त्र के आशय को फिर से त्रिकालस्थ नित्य बना दिया। इस उदाहरण में "इतिहास" का बीज स्पष्ट वेदोक्त "आख्यान" प्रतीत हो रहा है। ऐतिहासिक पक्ष के इस प्रकार विकसित होने के कुछेक और भी दृष्टान्त हम निरुक्त से उद्धृत करेंगे।

२. देवापि और शन्तनु

समुद्र पृथ्वी पर भी है, अन्तरिक्ष में भी। इस कथन की पुष्टि में निरुक्त २।१० में एक ऋचा दी है। ऋचा से पूर्व उसके सम्बन्ध में ऐतिहासिकों का मत उद्धृत किया गया है—

तत्रेतिहासमाचक्षते—देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः। स शन्तनुः कनीयानाभिषेचयाञ्चक्रे, देवापिस्तपः प्रतिपेदे। ततः शन्तनो राज्ये द्वादशवर्षाणि देवो न ववर्ष। तमूचुर्ब्राह्मणा अधर्मस्त्वया चरितः, ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितम्। तस्मात्ते देवो न वर्षतीति, स शन्तनुर्देवापिं शिशिक्ष राज्येन। तमुवाच देवापिः पुरोहितस्तेऽसानि। याजयानि च त्वेति। तस्यैतद् तद्वर्षकामसूक्तम्। तस्यैषा भवति—

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिञ्चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि॥

—ऋ० १०।९८।५

इस प्रकरण में यह इतिहास कहा गया है—ऋष्टिषेण का पुत्र देवापि और शन्तनु दो कुरुवंशीय भाई थे। शन्तनु छोटा था। उस ने अपना अभिषेक करा लिया। देवापि तपस्या करने लगा। तब शन्तनु के राज्य में बारह वर्ष तक वृष्टि न हुई। ब्राह्मणों ने उस से कहा—तू ने यह अधर्म किया है, जो बड़े भाई को छोड़ कर स्वयम् अभिषिक्त हुआ है। इसलिए तेरे राज्य में वृष्टि नहीं होती। तब शन्तनु ने देवापि से राज्य ग्रहण करने के लिए कहा। देवापि ने उससे कहा— मैं तेरा पुरोहित हो जाता हूँ और तुझ से यज्ञ करवाता हूँ। यह उस का वर्षकाम सूक्त है। उसमें यह ऋचा है—

ऋष्टिषेण (इन्द्र) का पुत्र, देवताओं को प्राप्त, मन्त्रद्रष्टा, देवताओं का कृपापात्र होना जानता था। उसने ऊपर के समुद्र से नीचे के समुद्र में चारों ओर से दिव्य वर्षा-जल बरसाया।

यास्क मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य पुत्रः, इषितसेनस्येति वा, सेना सेश्वरा समानगतिर्वा।……। देवापिर्देवानामाप्त्या स्तुत्या च प्रदानेन च देवसुमतिं देवानां कल्याणीं मतिम्। चिकित्वान् चेतनवान्……२।११

आर्ष्टिषेण का अर्थ किया है—ऋष्टिषेण का पुत्र। ऋष्टि शस्त्र को कहते हैं। ऋष्टिषेण का अर्थ हुआ—शस्त्रास्त्र से सुसज्जित सेनावाला। दूसरा अर्थ किया है—प्रेषित सेनावाला। सेना का अर्थ किया है—स-इना अर्थात् मुखिया सहित या समान गति वाली……। देवापि का अर्थ है—स्तुति अथवा हविर्दान

से देवताओं को प्राप्त=पहुँचा हुआ। देवसुमति=देवताओं की कल्याण-कारक मनोवृत्ति। चिकित्वान्=जाननेवाला।

ऊपर हम यास्क के प्रमाण से यह दिखा चुके हैं कि वर्षा का वेद में उपमार्थेन—अर्थात् अलंकार की रीति से—युद्ध का सा वर्णन होता है। यहाँ भी प्रकरण वर्षा का ही है। इसलिए ऋष्टिषेण—शस्त्रास्त्र से सुसज्जित सेना वाला, वही वर्षा का देवता **इन्द्र ही** है। ऋषि उस का पुत्र है क्योंकि वह "देवापि" अर्थात् देवताओं को पहुँचा हुआ उनका आपि (भाई) है। वह देवताओं को अपने अनुकूल करना जानता है। देवताओं के साथ पुत्रादि सम्बन्ध लाक्षणिक हैं। जैसे निरुक्त में ही कहा है—

सूर्यमस्या वत्समाह साहचर्यात्। २।२०

सूर्य को इसका पुत्र कहा गया है। इसलिए कि वह इसका सहचारी है।

ऋषि का देवताओं से साहचर्य-सम्बन्ध होता ही है। इन पुत्रादि सम्बन्धों के द्योतक ताद्धित रूपों का विवेचन हम आगे चलकर अधिक विस्तार से करेंगे। यहाँ एक और बात विशेष ध्यान देने योग्य है। वह यह कि इतिहास का उल्लेख करते हुए भी आर्ष्टिषेण, देवापि ही को कहा गया है। शन्तनु को नहीं। यही बात **बृहद्देवता** में पाई जाती है[१]। फिर भी हैं ये दोनों भाई। **स्कन्द स्वामी देवापि** और शन्तनु को भीमसेनपुत्रौ[२] कहकर ऋष्टिषेण को विरक्त देवापि का गुरु बताते हैं। इस अवस्था में ऋष्टिषेणस्य पुत्रः का अर्थ ऋष्टिषेणस्य शिष्यः होगा। हम ने ऋष्टिषेण को इन्द्र माना है। नित्य पक्ष में **स्कन्द स्वामी** भी ऋष्टिषेण का अर्थ मध्यम-स्थानीय देव करते हैं। सो इन्द्र ही है। इस अवस्था में ऋष्टिषेण का देवापि से सम्बन्ध देवापिता=देवज्ञता=देवबन्धुत्व का ही है। प्रकरण को स्पष्ट करने के लिए एक और मन्त्र भी उद्धृत किया है—

यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत्॥

—ऋ० १०।९८।७

जब देवबन्धु (ऋषि) ने अपने तथा पराये शरीर का सुख चाहनेवाले

---

१. आर्ष्टिषेणस्तु देवापिः कौरव्यश्चैव शन्तनुः। बृहद्देवता ७।१५५
त्वग्दोषी राजपुत्रस्तु ऋष्टिषेणसुतोऽभवत्। ७।१५६
बृहद्देवता में दी गई कथा के अनुसार देवापि ने त्वक्-दोष के कारण स्वयं राज्य छोड़ दिया।

२. कौरव्यौ कुरुवंशप्रभवौ भीमसेनपुत्रौ। २।१०
कौरव्य अर्थात् कुरुवंश में उत्पन्न भीमसेन के दो पुत्र।

यजमान के लिए यज्ञ का पुरोहित चुना जा कर कृपापूर्वक उसके अनुकूल ध्यान दिया तो वृष्टि चाहनेवाले तथा देवताओं को अपनी पुकार सुना सकनेवाले ऋषि पर निहाल हो कर बृहस्पति (मध्यम देव) ने उसे आवाज दी।

यास्क ऋचा का अर्थ इस प्रकार करते हैं:—

शन्तनुः शन्तनोऽस्त्विति वा, शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा। पुरोहितः पुरः एनं दधति। होत्राय वृत्रः कृपायमाणोऽन्वध्यायद् देवश्रुतं देवा एनं शृण्वन्ति। वृष्टिवनिं वृष्टियाचिनम्, रराणो रातिरभ्यस्तः। बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत्। सोऽस्मै वाचमयच्छत्।

शन्तनु का निर्वचन है—ए शरीर! तेरा सुख हो (यह चाहनेवाला) या इस शरीर का सुख हो यह चाहनेवाला । पुरोहितः=(यज्ञ में) अगुआ। उस ने होम के लिए चुना जा कर अनुकूल ध्यान किया। देवश्रुत=जिसकी पुकार देवता सुनें। रराणः=फिर-फिर दान करता हुआ। बृहस्पति ब्रह्मा था। उसने उसे आवाज दी।

ऊपर ''देवापि'' शब्द था। उसी अभिप्राय से आगे ''देवश्रुत'' कह दिया है। यास्क इसका निर्वचन करते हैं—देवता इस की सुनते हैं। यास्क के निर्वचन में वर्त्तमान काल का प्रयोग है, जिस से संज्ञा सामान्य हो गई है। ''बृहस्पति'' का पाठ निघण्टु में मध्यम-स्थानीय देवताओं में किया गया है जो इन्द्र तथा वायु के ही रूपान्तर हैं। ''ब्रह्म'' उदक के नामों में पठित है। मध्यम देवता अथवा जल की आवाज बादल की गरज अथवा बिजली की कड़क है। यह स्पष्ट आख्यान है[१]। अपना तथा लोक का सुख चाहनेवाले यजमान ने किसी देवश्रुत=देवबन्धु को जो वर्षेष्टि-विधि का पण्डित था और ऋष्टिषेण अर्थात् इन्द्र तक उसकी विशेष पहुँच थी। (जिस के कारण वह मानो इन्द्र-पुत्र हो गया था) वर्षेष्टि का पुरोहित बनाया। यज्ञ होते ही बादल की गरज सुनाई दी। और झटपट मूसलाधार मेंह बरसने लगा। देवता निहाल क्यों न होते? यज्ञ का पुरोहित उनका भाई-बन्द था। इन्द्र क्यों न बरसता? वर्षा का उत्सुक उस का पुत्र था। वह ऋष्टिषेण होकर आया, मानो पुत्र की सहायता के लिए वृत्र से युद्ध कर रहा है। इतिहासकार ने देवापि और शन्तनु

---

१. मध्यमप्रभवत्वाद्देवापिर्विद्युत्, शन्तनुरुदकं वृष्टिलक्षणम्, यत् यदा देवापिर्वैद्युतः शन्तनवे वृष्टिलक्षणस्योदकस्यार्थाय, पुरोहितः पूर्वं हि विद्योतते पश्चादुदकम्। (स्कन्दस्वामी)

मध्यम स्थान में होने के कारण देवापि—यह विद्युत् का नाम है। वृष्टि-हेतुक जल को शन्तनु कहते हैं। जब वैद्युत देवापि शन्तनु अर्थात् वृष्टि-हेतुक जल के लिए। पुरोहित इसलिए कि पहले विद्युत् चमकती है और पीछे पानी गिरता है।

को विशेष व्यक्ति का रूप दे कर उन्हें कुरुवंशीय भाई तक उद्घोषित कर दिया है। फिर शन्तनु को राज्य देते और बड़े भाई के तिरस्कार को अनावृष्टि का कारण बनाते क्या देर लगती थी ? नित्य अर्थ का द्योतक एक आलंकारिक आख्यान, अनित्य इतिहास बन गया है, जिसको निरुक्तकार ने अपने वर्तमान-कालिक निर्वचनों से फिर रूपान्तरित कर दिया है। शन्तनु प्रत्येक यजमान का नाम है। **देवापि** कोई भी ऋषि कहला सकता है। आर्ष्टिषेण वर्षा का गुर जाननेवाला प्रत्येक इन्द्र-पुत्र है। बृहस्पति उसकी पुकार सुनेगा और उसे आवाज़ देगा। वर्षा कराने में जहाँ भौतिक यज्ञ साधन हैं वहाँ ऋषि का अनुकूल ध्यान भी उपेक्षा करने की वस्तु नहीं। देवापि ने अपने चित्त को यजमान के चित्त के साथ मिला दिया था। तभी यज्ञ की सिद्धि हुई थी।

(३) विश्वामित्र और विपाट्-शुतुद्री।

लीजिये! अब हम एक और इतिहास को लेते हैं। लिखा है—

तत्रेतिहासमाचक्षते—विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव। (विश्वामित्रः सर्वमित्रः। सर्वं संसृतम्। सुदाः कल्याणदानः। पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः। पिजवनः पुनः स्पर्ध-नीयजवो वाऽमिश्रीभावगतिर्वा।) स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेदमाययौ, अनुययुरितरे। स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव, गाधा भवतेति। २। २४

इन (नदियों) के सम्बन्ध में इतिहास कहा जाता है—ऋषि विश्वामित्र **पिजवन** के पुत्र **सुदास** का पुरोहित था। (विश्वामित्र का अर्थ है=सर्वमित्र। सर्व का अर्थ है=खूब फैला हुआ। पैजवन=पिजवन का पुत्र। पिजवन=जिसकी गति स्पर्धा के योग्य हो, या मिश्रण-रहित=बेलाग हो।) वह धन लेकर **विपाट्** और शुतुद्री के संगम पर पहुँचा। अन्य लोग उसके पीछे-पीछे जा रहे थे। विश्वामित्र ने नदियों से प्रार्थना की—उथली हो जाओ।

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषा वस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः॥

—ऋ० ३।३३।५

मेरे सौम्य वचन को सुनकर, ऐ अधिक जलवाली नदियो! एक क्षण अपनी तेज गतियों को रोक लो। मैं शब्दकर्त्ता अर्थप्रकाशयिता (प्रभु) का पुत्र तुम्हारी शरण आया हूँ। हार्दिक आतुरता से मैं इस नदी को पुकारता हूँ।

यास्क मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय सोमसम्पादिने। ऋतावरीः ऋतवत्यः। ऋतमित्युदकनामा प्रत्यृतं भवति। मुहूर्त्तमेवैरयनैः,

अवनैर्वा। ..... । प्राभिह्वयामि सिन्धुं बृहत्या महत्या, मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वा, अवनाय। कुशिकस्य सूनुः। कुशिको राजा बभूव। क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयति-कर्मणः। साधु विक्रोशयिताऽर्थानामिति वा।

मेरे सौम्य वचन के लिए रुक जाओ। सोम्य=सोम सम्पादन करनेवाला=रसीला। ऋतावरीः=ऋतवती। ऋत=जल, फैला हुआ। ...... । मैं नदी को बड़ी, मन की ईषा=स्तुति=प्रज्ञा से सहायता के लिए पुकारता हूँ। कुशिक का पुत्र। कुशिक राजा हुआ। कुशिक=शब्द करनेवाला, प्रकाश करनेवाला, अर्थों का सम्यक् प्रकाशयिता।

यहाँ विशेषवाची नाम एक ''**कुशिक**'' ही पड़ा है। यास्क उसका अर्थ करते हैं अर्थों का सम्यक् प्रकाशयिता। यजुर्वेद में कहा है—याथा-तथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः=हमेशा के लिए अर्थों को उनके यथार्थ रूप में प्रकाशित कर दिया।

यहाँ यह बात परमेश्वर के सम्बन्ध में कही गई। नदी-सूक्त में भी ''कुशिक'' शब्द का नैरुक्त अर्थ यही प्रतीत होता है। ऋषि उसी परमेश्वर का पुत्र है। आख्यान में वह राजपुत्र हो जाता है क्योंकि ईश्वर ही तो राजाओं का राजा है। ऐतिहासिक पक्ष में वह एक विशेष राजा बन गया। ''बभूव'' क्रिया से आचार्य ने ऐतिहासिक पक्ष दिखाया। परन्तु निर्वचन से उसे सामान्य संज्ञा बना दिया। अर्थ भी दोनों पक्षों का हो गया, और एक पक्ष के दूसरे पक्ष में परिवर्तन होने की प्रक्रिया भी प्रदर्शित हो गई। कुशिक=अर्थ-प्रकाशक>राजा>विशेष राजा का नाम।

इन्द्रो॑ अ॒स्माँ अ॑रद॒द् वज्र॑बाहु॒रपा॑हन्वृ॒त्रं प॑रि॒धिं न॒दीना॑म्।
दे॒वोऽ॑नयत्सवि॒ता सु॑पा॒णिस्तस्य॑ व॒यं प्र॑स॒वे या॑म उ॒र्वीः॥

—ऋ० ३।३३।६

इन्द्र—ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ने मानो वज्र हाथ में लेकर हमें खोदा। वृत्र जो नदियों को घेर लेता है, उसे उसने हटा दिया। वह दिव्य प्रेरक अपने शुभ हाथों से हमें ले चला। अब हम इतनी विस्तृत हो कर उसी की आज्ञा में चल रही हैं।

यास्क ने इस ऋचा का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

इन्द्रो अस्मानरदद्वज्रबाहुः रदतिः खनतिकर्मा। अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनामिति व्याख्यातम्। देवोऽनयत्सविता सुपाणिः कल्याणपाणिः। ..... । तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः। उर्व्यः ऊर्णोतेः वृणोतेरित्यौर्णवाभः॥

वज्रबाहु इन्द्र ने हमें खोदा। अरदत्=खोदा। ...... । सुपाणि सविता देव हमें ले चला। सुपाणि:=कल्याणपाणि: । ..... । उर्वी:=विस्तृत, ढक देनेवाली।

प्रत्याख्यायान्तत आशुश्रुवुः।

इस प्रकार इन्कार कर अन्त को ऋषि की पुकार सुन ली।

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते॥

—ऋ० ३।३३।१०

ऐ स्तुतिकर्त्ता ऋषि! हमने तेरी बात सुन ली। तू गाड़ी तथा रथ के साथ दूर से चला है। सो हम तेरे आगे झुक जाती हैं। जैसे स्त्री (माता) पुत्र को दूध पिलाने और **कन्या वर** से आलिंगन करने के लिए।

इस मन्त्र की यास्क-कृत व्याख्या निम्नलिखित है—

आशृणवाम ते कारो वचनानि। याहि दूरादनसा रथेन च। निनमाम ते पाययमानेव योषा पुत्रम्। मर्यायेव कन्या परिष्वजनाय निनमा इति वा।

इन मन्त्रों का देवता **विपाट्-शुतुद्री** है। **विपाट्** और **शुतुद्री** का अर्थ यास्क ने अन्यत्र इस प्रकार किया है—

विपाटनाद्वा विपाशनाद्वा, विप्रापणाद्वा। पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतस्तस्माद्विपाडुच्यते। पूर्वमासीदुरुञ्जिरा। ९। २६

बन्धन काटने वाली, पाश खोलने वाली, उद्देश्य को प्राप्त कराने वाली। वसिष्ठ मरने का इच्छुक था। इस (नदी) में उसके पाश खुल गये। इससे यह विपाट् कहलाती है। पहले इसका नाम उरुञ्जिरा था।

शुतुद्री शुद्राविणी, क्षिप्रद्राविणी, आशु तुन्नेव द्रवतीति वा। ९। २६

शुतुद्री=तेज दौड़ने वाली, हाँकी जाकर तेज दौड़ने वाली।

वसिष्ठ का इतिहास तो आखिर इतिहास ही है। ज्ञानी सन्ताप का मारा मरने चला हो और उसके पाश खुल जाएँ—ऐसी नदी निवृत्ति-मार्ग के सिवाय और कौन सी हो सकती है। और **शुतुद्री** जो यात्री को तेज़-तेज़ दौड़ा रही है—कहीं ठहरने, दम लेने देती ही नहीं—स्पष्ट प्रवृत्ति-मार्ग ही है। मनुष्य के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं। जब इन दोनों रास्तों का संगम हो जाता है। मनुष्य दोनों मार्गों को दुर्गम पाता है। **कौशिक**—यथार्थ ज्ञान-प्रकाशक प्रभु का पुत्र—ऐसी अवस्था में आया और दोनों नदियों को तैर जाने, दोनों रास्तों को पार कर जाने को उत्सुक हुआ। नदियों का सारगर्भित उत्तर निराश आस्तिकों के लिए आश्वासन के लिए मानो मीठा शर्बत है। नदियाँ इन्द्र की चलाई हुई हैं। **वृत्र (पाप)** इनके रास्ते में रुकावट है। उसे **इन्द्र** हटाता है। कल्याणपाणि प्रभु इन्हें अपने साथ-साथ ले चलता है। दोनों

नदियाँ प्रभु की प्रेरणा से चल रही हैं। जहाँ प्रभु का प्रेमभरा हाथ स्वयं कल्याण की वर्षा कर रहा हो वहाँ डरने या घबराने का क्या काम? दोनों नदियाँ प्रभु के पुत्रों के लिए सुतर, सुपार हैं। निवृत्ति-मार्ग का यात्री तो मानो प्रकृति का पुत्र ही है। प्रकृति माता उसे दूध का पान कराती है। और प्रवृत्ति-मार्ग के पथिक के लिए प्रकृति पत्नी है। यथार्थ विधि से कोई किसी भी मार्ग का सेवन करे, अन्त में उसका कल्याण ही होगा। इस आध्यात्मिक तथ्य को वेद ने एक सुन्दर आख्यान का रूप दे दिया[१]। ऐतिहासिकों ने उस पर कथा गढ़ दी कि वास्तव में कोई **विश्वामित्र** नाम का सुदास राजा का पुरोहित था। वह किन्हीं दो नदियों के संगम पर पहुँचा था। और उनसे उसकी बातचीत भी हुई थी। पुरोहित से नदियों की बातचीत साफ कविता है। यास्क ने वेद में अन्यत्र आये **विश्वामित्र, पिजवन, सुदास** आदि नामों की व्युत्पत्ति कर उन्हें सामान्य पद (Common nouns) बना दिया है।

(४) सरण्यू

ऐतिहासिक वाद की एक और रोचक कथा **सरण्यू** की है। उस पर यास्क १२।१० में लिखते हैं—

तत्रेतिहासमाचक्षते—त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद् यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार। सा सवर्णामन्यां प्रतिनिधायाश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव। स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य सम्बभूव। ततोऽश्विनौ जज्ञाते, सवर्णायां मनुः।

इस विषय में इतिहास कहते हैं—**त्वष्टा** की पुत्री **सरण्यू** ने विवस्वान् आदित्य से दो यमज पुत्र—**यम** और यमी पैदा किये। वह अपनी सवर्णा, एक और स्त्री को अपने स्थान में छोड़ तथा घोड़ी का रूप धारण कर दौड़ गई। विवस्वान् आदित्य ने भी घोड़े का रूप धारण कर उसका पीछा किया उससे संयुक्त हुआ। इससे अश्वी पैदा हुए; सवर्णा से मनु पैदा हुआ।

तदभिवादिन्येषर्ग् भवति।

---

१. नित्यपक्षे प्रावृषि प्लावितोभयकूला नदीः सर्वमित्रो भगवानादित्योऽध्येषतीव रमध्वं म इत्यादि। देशप्लवनं माकार्ष्ट यज्ञानां संव्यवहार्या भवतेति। जगतः पालनकामः क्रंशतेः, औषसः प्रकाशः कुशिकः, कुशिकस्य प्रकाशस्य सूनुरहमादित्यः, तस्य पुत्रस्थानीय इत्यर्थः। (स्कन्दस्वामी)

नित्य पक्ष में तो वर्षा ऋतु में दोनों किनारों पर जल से व्याप्त नदियों को सर्वमित्र अर्थात् भगवान् आदित्य प्रार्थना सी करता है कि तुम देश को जल से प्लावित मत करो। यज्ञों के लिए व्यवहार के योग्य हो जाओ। मैं संसार के पालन की इच्छा करनेवाला, कुशिक अर्थात् प्रकाश का सूनु, उस का पुत्र-स्थानीय सूर्य हूँ।

यह (कथानक) इस ऋचा में कहा गया है—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥

—ऋ० १०।१७।१

त्वष्टा पुत्री का विवाह करता है—यह सुनकर सम्पूर्ण भूतजात एकत्रित हो रहा है। यम की माता—महान् विवस्वान् की स्त्री—विवाह होते-होते लुप्त हो गई।

निरुक्तकार ने मन्त्र का यह ऐतिहासिक अर्थ कर उसके आगे अपनी ओर से इतना और बढ़ा दिया है—

रात्रिरादित्यस्य (जाया) आदित्योदयेऽन्तर्धीयते।

आदित्य की स्त्री रात्रि आदित्य के उदय होने पर अन्तर्हित हो जाती है।

इससे पता लगा कि निरुक्तकार के मत में **सरण्यू** रात्रि का नाम है। ऊपर कहा ही है—सरण्यूः सरणात्। सरण्यूः=गतिशील (रात्रि)। वेदोक्त आख्यान केवल उसके लोप ही का वर्णन करता है। रात्रि त्वष्टा की पुत्री है[1]। त्वष्टा अग्नि है, जो रात का देवता है। वह अपनी कन्या का विवाह उदीयमान (**विवस्वान्**) सूर्य से कर रहा है। इस समाचार से सारे ब्रह्माण्ड में खुशियाँ

१. नैरुक्तपक्षे त्वस्यामृचि त्वष्टा मध्यमस्तमोभागस्तस्य दुहिता उषाः। तेन रात्रिरूपेण स्वैरुदये (सूर्योदये) जन्यमानत्वात्तस्या वहनं प्रापणमनुप्रवेश आदित्ये तं स मध्यमस्त्वष्टा रात्रिरूप आत्मापगमनेन करोति। एतेन कारणेनेदं सर्वं भूतजातं समेति संगच्छते स्वैः कर्मभिः सम्बध्यते। उदितायां ह्युषसि अपैतीदानीं तम उदेत्यादित्य इत्येवं मन्यमानाः सर्वप्राणिनः स्वकर्माणि कर्त्तुं प्रारभन्त इत्यर्थः। सापि, यम आदित्यस्तस्य माता साहचर्याद्रसहरणाद्वा मातृभूता। तं प्रति पर्युह्यमाना च न केवलं मातृभूता। किं तर्हि? महो महतो विवस्वतोऽभिगमनसामान्या-ज्जायाभूता विश्वरूपेण ननाश नश्यति। उद्यत्यादित्ये लीयते तदात्मवैवेत्यर्थः। अभिसमागच्छतीति स्वैः कर्मभिरिति वाक्यशेषः रात्रिरा-दित्यस्येति च रात्रिशब्देन रात्रेरेकदेशत्वादुषा एवोच्यते सम्बन्धत्वात्। सा च देवधर्मेणादित्यस्य माता। १२।११ (स्कन्दस्वामी)

नैरुक्त पक्ष में तो इस ऋचा में त्वष्टा मध्य लोक के तमो-भाग का नाम है। उषा उसकी लड़की है। सूर्य के उदय होने पर उषा रात्रि-रूप त्वष्टा से उत्पन्न होती है। त्वष्टा उसका वहन=अनुप्रवेश आदित्य में कर देता है। इससे सारा प्राणी-जगत् अपने-अपने कार्य में लग जाता है। ....यम भी आदित्य है। उसकी वह माँ है—साहचर्य के या रस-हरण के कारण। वह केवल माँ ही नहीं, जाया भी है। ....नष्ट हो जाने का अर्थ है उसके साथ एकीभूत होकर उसी में लीन हो जाना। ....रात्रि से अभिप्राय रात्रि का एक अंश उषा है। वह देव-धर्म से आदित्य की माता है।

हो रही हैं।, परन्तु कन्या वर को देखते ही लापता हो जाती है। इस ऋचा से आगे यह ऋचा पड़ी है—

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामबदुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥

—ऋ० १०।१७।२

न मरनेवाली रात्रि को मरणशील (भूतजात) से छिपा ले गये। **विवस्वान्** को उसकी सवर्णा (उषा) बनाकर दे दी गई। वह जो **सरण्यू** थी उसने अश्वी पैदा किये और वह दो यमज और छोड़ गई।

निरुक्तकार ने मन्त्र की उपयुक्त व्याख्या कर द्वा मिथुना=दो यमजों का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

मध्यमं च माध्यमिकां च वाचमिति नैरुक्ताः। यमं च यमीं चेत्यैतिहासिकाः।

मध्यस्थानीय देवता तथा मध्यमस्थानीय वाक् अर्थात् विद्युत् और उसका शब्द—यह नैरुक्तों का मत है। **यम** और यमी—यह ऐतिहासिकों का मत है।

पूर्व मन्त्र में सरण्यू को यम की माता कहा था। यम निरुक्तकार के मत में कोई पुरुष-विशेष नहीं, किन्तु विद्युत् है। रात्रि का निर्वचन करते हुए कहा ही है—

प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः। २।१८

इसमें ओस पड़ती है।

सूर्य ओस को सुखाता है और उससे बादल तथा बिजली का निर्माण होता है। अश्वी दिन निकलने से पूर्व के अहोरात्र-रूप देवता है। अन्यत्र अश्वियों का काल बताया है—

तयोः काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात् प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भमनु।

उनका काल आधी रात के पीछे सूर्योदय तक है।

इस काल में कुछ-कुछ अन्धकार रहता है और कुछ-कुछ प्रकाश। इसी से अश्वियों को अहोरात्र कहा है—

अहोरात्रावित्येके। १२।१।

वेद ने इस दिन-प्रतिदिन हो रही घटना को एक सुन्दर आख्यान के रूप में वर्णन किया। ऐतिहासिकों ने सरण्यू को, चाहे दौड़ के कारण, और चाहे अश्वियों की माता होने के कारण घोड़ी बना दिया। इससे यम (मध्यम देव) पैदा हुआ था। उसे पुरुष-विशेष और उसके शब्द को स्त्री-विशेष का रूप दे दिया। उषा सूर्य की सवर्णा थी। उसे **सरण्यू** की सवर्णा बना कर उससे **मनु** की उत्पत्ति की। यास्क ने जैसे वृत्र को मेघ कह दिया, वैसे ही सरण्यू को रात्रि और **यम**-यमी को विद्युत् तथा उसकी आवाज़ कह कर अनित्य

इतिहास का काल्पनिक आवरण झट छिन्न-भिन्न कर दिया। नित्य मन्त्रों में इतिहास भी तो नित्य ही होना चाहिए।

५. इन्द्र और अगस्त्य

ऋ० १।१७० में इन्द्र और अगस्त्य का संवाद है। उस पर निरुक्तकार १।५ में लिखते हैं—

अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरूप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्साञ्चक्रे, स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रे।

अगस्त्य ने इन्द्र के लिए हवि पृथक् कर उसे मरुतों को देने का विचार किया। इन्द्र आकर रोने लगा—

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीतं वि नश्यति॥ १॥

अनिश्चित पदार्थ न आज का है न कल का। उसे कौन जाने अभी हुआ ही नहीं। अनैकान्तिक पुरुष का चित्त अस्थिर=हरजाई होता है। सोचा हुआ भी तो नष्ट हो जाता है।

निरुक्तकार के अनुसार—

अद्भुतम्=अभूतम्। अभिसञ्चरेण्यम्=अभिसञ्चारि। अन्यः=नानेयः। अधीतम्=आध्यातम्=अभिप्रेतम्।

अगस्त्य ने इन्द्र की उस पुकार को सुनकर उत्तर दिया—

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः॥ २॥

हे इन्द्र! तू हमें क्या मारने पर उतारू हुआ है? **मरुत्** भी तो तेरे भाई हैं। उनसे यथार्थ सहयोग कर। इस संग्राम में हमारा नाश मत कर। इस पर इन्द्र कहता है—

किन्नो भ्रातरगस्त्य सखा सन्नति मन्यसे।
विद्मा हि ते यथा मनोऽस्मभ्यमिन्न दित्ससि॥ ३॥

भाई अगस्त्य! क्या तू सखा होकर हमारा तिरस्कार करता है। हम तेरे मन की गति को जानते हैं। तू हमें ही तो नहीं देना चाहता।

अगस्त्य ने उसका बहुत सुन्दर उत्तर दिया है जो दो मन्त्रों में आया है—

अरं कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धतां पुरः।
तत्रामृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै॥ ४॥
त्वमीशिषे वसुपते वसूनां त्वं मित्राणां मित्रपते धेष्ठः।
इन्द्र त्वं मरुद्भिः संवदस्वाध प्राशान ऋतुथा हवींषि॥ ५॥

ऋत्विज लोग वेदि को सजाएँ। हमारे सामने अग्नि प्रज्वलित हो जाये। वहाँ हम तुझ अमर आत्मा का चेतन यज्ञ करें।

ऐ इन्द्रियों के पति! तू इन्द्रियों पर राज्य करता है। ऐ प्राणों के स्वामी! तू ही तो प्राणों का आधार है। **ऐ इन्द्र!** तू मरुतों के साथ संवाद कर और ऋतुओं के अनुकूल हवियों का उपभोग कर।

इन्द्र इस सूक्त में आत्मा है। उसको चतुर्थ मन्त्र में अमृत और उसके यज्ञ को ''चेतन यज्ञ'' कहा है। अगस्त्य पहले तो अगेषु अगम्येषु अनाचरणीयेषु अभोक्तव्येषु भोगेषु स्त्यायते इत्यगस्त्यः अर्थात् न भोगने योग्य भोगों में बढ़ा हुआ मनुष्य है। उसका चित्त अनैकान्तिक अर्थात् अस्थिर है। वह आत्मा की परवाह न कर मरुतों (प्राणों) के पोषण ही में लगा रहता है। यह देखकर उसका आत्मा दुःखी होता है। और **अगस्त्य अगेषु दुर्गमेषु आत्मतत्त्वेषु स्त्यायते इति अगस्त्यः** अर्थात् दुर्गम आत्मतत्त्वों को जाननेवाले अपने अन्तरात्मा को जगाता है। पहले तो अगस्त्य उसे यह कह कर टालता है कि प्राणों का पोषण भी वास्तव में **इन्द्र** ही का पोषण है पर इससे आत्मा टला नहीं। उसने स्पष्ट कह दिया कि तेरे मन की गति मुझ से छिपी नहीं है। तू अगर किसी से उपेक्षा कर रहा है तो केवल मुझ ही से। आध्यात्मिक उन्नति के लिए ही तेरे पास साधन नहीं, समय नहीं। तू यज्ञ करता है, पर जड़। चेतन यज्ञ कर। इस पर अगस्त्य चेत जाता है। वह समाहित-चित्त हो जाता है। अब वह चेतन—आध्यात्मिक—यज्ञ की तय्यारी करता है। इन्द्रियों तथा प्राणों को आत्मा के अधीन कर मरुत्वान् से मरुतों का संलाप करा देता है। अब जो हवि इन्द्रियों को मिलेगी, वह ज़रूर आत्मा की ही होगी क्योंकि अब उनकी वेदि आत्मा-भावना से भावित है, उनकी अग्नि चेतन है।

६. विश्वकर्मा

''विश्वकर्मा'' का अर्थ निरुक्त १०। २५ में सूर्य तथा आत्मा कर आगे लिखा है—

तत्रेतिहासमाचक्षते। विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार। तदभिवादिन्येषर्ग् भवति—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश॥[१]

—ऋ० १०।८१।१

१. स्कन्दस्वामी मन्त्र का आधिदैविक अर्थ इस प्रकार करते हैं—
य इमा विश्वा। यो विश्वकर्मा मध्यम इमानि सर्वाणि भुवनानि। भुवन-

इस पर इतिहास कहते हैं—**भुवन** के पुत्र विश्वकर्मा ने सर्वमेध यज्ञ में सब वस्तुओं की आहुति दे दी। उसने अन्ततः अपनी भी आहुति दे दी। इस कथानक को कहनेवाली यह ऋचा है—

जिस तत्त्वद्रष्टा ने होता बनकर इस समस्त भूतजात की (यज्ञ में) आहुति दे दी। वह हमारा पिता (हमारे हृदयासनों पर) विराजमान हुआ। वह विशाल व्यापक आत्मा अपने शुभ सङ्कल्पों से (दूसरों के लिए) धन धान्य की कामना कर अपने से छोटों में मानो प्रवेश कर गया।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए यह और मन्त्र उद्धृत किया जाता है—

मित्युदकनाम उदकानि वृष्टिलक्षणानि जुह्वत् प्रक्षिपन्। ऋषिर्द्रष्टा लोकपालत्वात् कृताकृतस्य लक्षणः। होता आह्वाता मेघानाम्। आह्वातव्यो वा। न्यसीदत् निषण्णोऽन्तरिक्षे। पिता पितृस्थानीयः पालयिता वा नोऽस्माकम्। स आशिषा जनस्य प्रार्थनया द्रविणं सस्यलक्षणं धनमिच्छन्। प्रथमच्छत् उत्कृष्टं छादयित्वा मेघैरन्तरिक्षस्योदकैर्वा भूमेः। अवरान् वृष्टिस्थानादर्वाग्वर्तिनः प्रदेशानन्तरिक्षदेशांश्च। आविवेश वृष्ट्या व्याप्तवानित्यर्थः।

उस पालक, द्रष्टा तथा मेघों का आह्वान करने वाले, अन्तरिक्ष में स्थित विद्युत् ने जलों को बरसाया। अपने लोगों की प्रार्थना से प्रेरित होकर आकाश को मेघों—जलों से आच्छादित करते हुए उसने पृथिवी और आकाश को वृष्टि से सरसा दिया।

आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार करते हैं:—

यो विश्वकर्मा क्षेत्रज्ञः प्रलयकाले इमानि सर्वाणि भूतजातानि प्रक्षिपन्। क्व? आत्मनि। कुत एतत्? "ब्रह्म वै स्वयम्भू तपोऽतप्यत तदैक्षत न वै तपस्यानन्त्यमस्ति (नान्यमस्मि) हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि भूतानि चात्मनि" इति श्रुतेः सर्वभूतान्यात्मनि प्रलयं नयन्नित्यर्थः। ऋषिर्द्रष्टा विश्वस्य। होता चात्मनि सर्वभूतानि। न्यसीदत् निषण्णः प्रलीन आत्मनापि प्राणिन कारणात्मनावस्थित इत्यर्थः। पिता उत्पादयिता नोऽस्माकम्। स आशिषा आशीःशब्देनात्राशीःफलत्वादतीतायां सृष्टौ यत्कृतं कर्मानुपभुक्तफलं तदुच्यते। हेतौ तृतीया। तेन हेतुना। फलभोगार्थमित्यर्थः। द्रविणं धनं पुनः सृष्टिरूपमिच्छन्। उत्कृष्टं छादयिता सर्वस्य। विकारैरवरान् अर्वाग्वर्तिनः। वर्तमानायां सृष्टौ येऽपिहितास्तानित्यर्थः। आविवेश स्वत उत्पादनेन व्याप्तवानित्यर्थः।

वह हमारा पिता, सर्वद्रष्टा, होता-रूप क्षेत्रज्ञ प्रलय समय में सर्वभूत-जात को अपने भीतर धारण करता हुआ अवस्थित है। वह सर्वाच्छादक (प्राणियों के) पूर्वजन्म-कृत कर्मों के फल के उपभोगार्थ सृष्टि-रूप धन की कामना करता हुआ प्रथम से चले आ रहे जीव-जात में व्याप्त हो रहा है।

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥[१]

—ऋ० १०।८१।६

ऐ सम्पूर्ण कर्म्मों के करनेवाले! पृथिवी तथा द्युलोक दोनों को अपनी बलि से बढ़ा-बढ़ाकर इन्हें अपने यज्ञ का साधन बना। दूसरे (प्रतिस्पर्धी जन) इसे देखकर चारों ओर से मुग्ध हो जायें। इस (यज्ञ) में हमारा आत्मा सचेत रहे।

---

१. स्कन्दस्वामी आधिदैविक अर्थ इस प्रकार करते हैं—

हे विश्वकर्मन्! हविषाऽनेनास्मत्प्रत्तेन उदकनामा हविःशब्दो वृष्टिलक्षणेनोदकेन। वावृधानो वर्धमानस्त्वम्। स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्। द्वितीया चतुर्थ्यर्थे। यजिर्दानार्थः। दिवे च पृथिव्यै च वृष्टिलक्षणमुदकं देहि। अन्तर्नीतण्यर्थो वा यजिः। द्यावापृथिवीभ्याञ्च तत्सुखलक्षणवृष्टिप्रदानद्वारेण स्वयं याजय पृथिवीस्थान् द्युस्थांश्च यष्टॄन्। यावान् कश्चिद् यष्टा तं सर्वमित्यर्थः। मुह्यन्तु चान्ये। अभितः उभयतः। यागतः स्तुतितश्च मा यष्टुं मा च स्तोतुं ज्ञासिषुरित्यर्थः जनासो जनाः मनुष्याः सपत्नभूताः। इह कर्मण्यस्माकं स्वभूतोऽन्तरात्मा यजमानो मघवा हविर्लक्षणेन धनवान् नित्यं सूरिस्तव स्तोता अस्तु।

हे विश्वकर्मन्! हवि अर्थात् जल से बढ़ते हुए द्युलोक और पृथिवी के लिए स्वयं यज्ञ कर—वर्षा कर। हमारे शत्रु दोनों ओर से मुग्ध हो जायें=चकित रह जायें=न जान सकें। हमारा आत्मा स्तुति करनेवाला हो।

आध्यात्मिक अर्थ निम्न प्रकार करते हैं—

हे विश्वकर्मन् क्षेत्रज्ञ! हविषा वावृधानः। हविःसम्बन्धाद् यागः कर्मोच्यते। तच्च प्रदर्शनार्थं वृद्धिरपि सामर्थ्यवृद्धिरभिप्रेता न रूपवृद्धिः। अयमर्थः। हविः सम्बन्धयागदानप्रभृतिनाऽतीतसृष्टौ कृतेनानुपभुक्तफलेन स्वफलोपभोगार्थमाविर्भूतसृष्टिसामर्थ्यम्। स्वं यजस्वेति यजिः करणार्थः। ''यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु'' इति। तदयमर्थः। स्वयं कुरूत्पादयेत्यर्थः। यद्यपि परमात्मोत्पादयति न क्षेत्रज्ञः। तथापि प्रकृतिभूम्नेदं विकारस्य पूर्ववद्वचनम्। किं तदुत्पादयामीति चेत्। उच्येत। पृथिवीमुत द्यां द्वयञ्च। मुह्यन्त्वन्ये अभित उभयतः स्वतः परतश्च। मा त्वां स्वयं ज्ञासिषुः। मा चैनान् पर आचार्यादिः कश्चिदजिज्ञपदित्यर्थः। (जनासः) जनाः मनुष्याः सपत्नभूता अस्माकम्। क्व मुह्यन्त्वित्याह। इदं त्वन्माहात्म्ये। अस्माकं तु स्वभूतोऽयमन्तरात्मा मघवा योऽत्रेन धनेन धनवान्। अस्य त्वन्माहात्म्यस्य स्तोतृनाम स्तुत्या चात्र सम्बन्धात् प्रज्ञा लक्ष्यते प्रज्ञाता अस्तु।

अर्थः—क्षेत्रज्ञ आत्मा हवि—पूर्व जन्म में किए यज्ञादि पुण्यों के फल से बढ़ाता हुआ द्युलोक और पृथिवी को उत्पन्न करता है। हमारे शत्रु (तुझे देखकर) मुग्ध हो जायें अर्थात् तुझे जान न सकें। हमारा आत्मा प्रज्ञावान् हो।

यास्क ने सूरि का अर्थ किया है—प्रज्ञाता। अन्ये जनाः को सपत्नाः कहा है।

इन मन्त्रों में ''विश्वकर्मा'' का अर्थ आत्मा तथा परमात्मा दोनों हो सकते हैं। विश्वकर्मा वह आत्मा है जिसने सम्पूर्ण कर्म कर लिये हैं। उसके शरीर का एक-एक अणु यज्ञ के अर्पण है। वह ऋषि है। अन्य जनों का वह वास्तव में पिता ही है। उसके हृदय से अनायास आशीर्वाद निकल रहे हैं। वह सब की ऋद्धि-सिद्धि का इच्छुक है। वह अपने से छोटे दर्जे के मनुष्यों के साथ एकीभूत है। उसे अपने लिए कुछ नहीं करना। दूसरों का हित-साधन ही अब उसका एकमात्र कार्य रह गया है। फिर परमेश्वर की तो यह वृत्ति स्वाभाविक ही है; सब कर्त्ताओं की कर्मशक्ति का साधक होने से एकमात्र कर्म-साधक वास्तव में वही है। यह ब्रह्माण्ड उसी का यज्ञ है। द्युलोक और पृथिवी दोनों इस यज्ञ की सामग्री हैं। आत्मा की हवि ने इस यज्ञ को चेतन यज्ञ बना दिया है। फिर वह आत्मा चाहे मनुष्य का हो और चाहे प्रभु का। उस आत्मा के होतृत्व में ही इस यज्ञ की शान है। इस यज्ञ को देखकर प्रतिस्पर्धी भी मुग्ध हैं। और जो सिरे से प्रतिस्पर्धी हुए ही नहीं उनका तो कहना ही क्या है? मनुष्य परमेश्वर की या ऋषियों की बराबरी का दावा करे, इसका अन्त आश्चर्य है—पश्चात्ताप है। ऋषि कहता है—मैं पहले से सचेत रहूँ, प्रभु का प्रतिस्पर्धी न बनूँ। ऋषि ने इस विश्वकर्म-सूक्त का साक्षात्कार किया। उसमें आई भुवनों की ''आहुति'' पर मस्त हो गया। उसने अपना नाम रखा **''विश्वकर्मा भौवन''**। सर्वमेध तो उसने कर ही दिया होगा। ऐतिहासिकों ने इसे किसी पुरुष-विशेष का, भौतिक अग्नि में प्रवेश समझा। यह उनकी भूल थी। सर्वमेध तो सर्वस्व-त्याग ही का नाम है। आत्मा की आहुति अपने समस्त जीवन को परोपकारार्थ अर्पण कर देने से ही दी जाती है।

आधिदैविक होत्र में यही गति सूर्य की प्रतीत होती है। वह इस विश्व-यज्ञ में पृथिवी तथा अन्य ग्रहों उपग्रहों की आहुति देकर सन्तुष्ट नहीं हुआ। प्रतिक्षण अपने सम्पूर्ण स्वत्व को इस विशाल अग्नि-कुण्ड में स्वाहा कर रहा है।

७. मैत्रावरुण वसिष्ठ

निरुक्त ५।१३ में **उर्वशी** शब्द की व्युत्पत्ति बताई गई है। उसके आगे लिखा है—

तस्या दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतश्चस्कन्द।
तदभिवादिन्येषर्ग् भवति—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त ॥[१]

—ऋ० ७।३३।११

अर्थात् उस (उर्वशी) के दर्शन से मित्र और वरुण का वीर्य स्खलित हो गया। इस (इतिहास) की ओर इस ऋचा में संकेत किया गया है।

यास्क ने इस मन्त्र के दो तीन शब्दों का ही अर्थ किया है—

उत=अपि। द्रप्सः=सम्भृतः, प्सानीयो भवति। विश्वे=सर्वे। पुष्करम्=अन्तरिक्षम्, (हृदयकमलम्)।

उर्वशी का अर्थ दुर्गाचार्य तथा स्कन्दस्वामी दोनों विद्युत् करते हैं। पूर्व के मन्त्र में विद्युत् शब्द पड़ा भी है।

विद्युतो ज्योतिः परि सञ्जिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा विश आजभार ॥ १० ॥

तुझ विद्युत् की ज्योति को चारों ओर छूटते हुए जो मित्र और वरुण ने

---

१. आधिदैविक पक्ष में स्कन्द स्वामी इस प्रकार अर्थ करते हैं—

नित्यपक्षे तु उर्वशी विद्युद् वशिष्ठोऽप्याच्छादित उदकसङ्घातः। वसुनिमित्तत्वाद्वा वसुमत्तमः। मित्रावरुणावपि वाय्वादित्यौ विश्वे देवा रश्मयः। एकवाक्यतायै च यत्तच्छब्दाध्याहारः कर्त्तव्यः। तेनायमर्थः। यत् पूर्वं तावत् पृथिव्यां भवः पार्थिवः। उत अप्यसि मैत्रावरुणो मित्रावरुणाभ्यां वाय्वादित्याभ्यामाकृष्टः सन् तत्सम्बन्धान्मैत्रावरुणो मित्रावरुणसम्बन्धीत्यर्थः। हे वसिष्ठ आच्छादयितृतम वसुनिमित्तत्वाद्वा वसुमत्तम उदकसङ्घात उर्वश्या उर्वन्तरिक्षव्यापिन्या विद्युतः। अधि धात्वर्थत्वानुवादी जात उत्पन्नः। हे ब्रह्मन् परिवृद्ध उपचाराद्वा ब्रह्मणोऽन्यस्य हेतुभूत! मनसः निमित्तलक्षणा चैषा पञ्चमी मनसोवसम्बन्धात् सङ्कल्पो लक्ष्यते। स मित्रावरुणवप्राणां सङ्कल्पनिमित्तत्वादित्यर्थः। द्रप्सं संमितं भक्षयितव्यं चोदकसङ्घातं स्कन्नं मुक्तं ब्रह्मणा दैव्येन दिवि भवेनादित्येन विश्वे देवा रश्मयो मध्यमाया...... प्रावृषि पुष्करेऽन्तरिक्षे त्वां धारितवन्तः।

नित्य पक्ष में तो उर्वशी विद्युत् का नाम, और वसिष्ठ ढके हुए जल-समूह का नाम है। धन-धान्यादि ऐश्वर्य का कारण होने से जल-समूह वसुमत्तम वसिष्ठ है, मित्र और वरुण से अभिप्राय वायु और आदित्य का है, और ''विश्वेदेवाः'' किरणों को कहते हैं। यत् और तत् का अध्याहार करने से अर्थ इस प्रकार बनता है कि—पहले पृथ्वी में होने के कारण जो जल पार्थिव है वह मित्र और वरुण अर्थात् वायु और आदित्य से खींचे जाने के कारण मैत्रावरुण कहलाता है। हे वसिष्ठ! अर्थात् अच्छा आच्छादन करनेवाले (वस=आच्छादने) धान्याद्यैश्वर्य के कारण वसुमत्तम कहलाने वाले, विद्युत् द्वारा उत्पन्न महान् जल के समूह! आकाश-स्थित सूर्य द्वारा रश्मियाँ अन्तरिक्ष में तुझ पेय जल को वर्षा ऋतु में धारण करती हैं।

देखा, ऐ वसिष्ठ! वह भी तेरा एक जन्म था जो **अगस्त्य** तुझे प्रजाओं के पास ले गया।

इसके आगे वही उतासि`````` इत्यादि मन्त्र आता है। उसका शब्दार्थ इस प्रकार है—

ऐ ब्रह्मवेत्ता वसिष्ठ! तू **उर्वशी** के मन से पैदा हुआ है और मैत्रावरुण भी है। दिव्य ब्रह्म द्वारा फेंके गए तुझ अंश को सब देवताओं ने (हृदय-) कमल में ले लिया।

शतपथ ब्राह्मण १२।८।२।२३ में मनो मैत्रावरुण:=मन मैत्रावरुण है—ऐसा कहा गया है। **कौषीतकि** १८।१३ में 'गोसंस्तवौ वै मित्रावरुणौ' अर्थात् वाणी और स्तुति मित्र और वरुण हैं—ऐसा पाठ है। शतपथ १४।४।३।१३ में मनोऽन्तरिक्षलोक: यह पाठ है। **ताण्ड्य ब्राह्मण** १९।३।८ में वसिष्ठस्य जनित्रे (सामनी) भवत:=वसिष्ठ के पैदा करनेवाले दो साम हैं। शतपथ १४।९।२।२ में वाग्वै वसिष्ठा=वाणी वसिष्ठा है। और **ऐतरेय ब्राह्मण** ५।२३ में वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम्=वाणी और मन देवताओं के जोड़े हैं—ऐसा लिखा है।

इन ब्राह्मणों के आधार पर यदि हम वसिष्ठ को मन मानें और मित्र और वरुण को क्रमश: वाणी अर्थात् ज्ञान और स्तुति अर्थात् भक्ति तो अर्थ स्पष्ट हो जाएगा। मन को उर्वशी का पुत्र उसकी चंचलता के कारण कहते हैं। पहले उसे विद्युतो ज्योति: अर्थात् बिजली की चमक कहा, फिर उर्वशी के भी मन से पैदा हुआ बताया। पहले तो बिजली ही तेज़ फिर उसका भी मन! अस्थिरता की पराकाष्ठा है। मित्र और वरुण का साहचर्य दूसरे शब्दों में उसको ज्ञान और भक्ति का प्रदान है, जो अगस्त्य (गुरु) के कुम्भ (गर्भ) में हुआ है। यह भी तो उसका एक जन्म है। देवताओं ने पुष्कर अर्थात् हृदय-कमल में रखकर उसे समाहित किया है। तब—

ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्।

इस जन्म के पश्चात् वसिष्ठ को ऋषि कहते हैं।

मित्र और वरुण अर्थात् ज्ञान और भक्ति द्वारा सींचे हुए रेत:=तेज को धारण कर वसिष्ठ मान=माप-तुला पूर्ण पुरुष बना है। स्वयं वेद कहता है—

उक्थभृतं सामभृतं बिभर्ति ग्रावाणं बिभ्रत्प्र वदात्यग्रे।

—ऋ० ७।३३।१४

वाणी द्वारा तथा साम द्वारा संगृहीत तेज को धारण किये हुए (वसिष्ठ) आगे जाकर उपदेश करेगा।

पूर्ण शिक्षा होती ही वही है जिस में बुद्धि और भावना दोनों का एक-साथ विकास कराया जाए।

दूसरे शब्दों में वसिष्ठ सुसंस्कृत मन है। हृदय-कमल उसका अन्तरिक्ष है। देवताओं का मन वहीं रहता है। इससे पूर्व वह **उर्वशी** के हृदय की तरंग है। आचार्य की कृपा उसका "दूसरा" जन्म है जिसे वेद ने "उत"= अपि=भी—इस निपात को दोहरा-दोहरा कर स्पष्ट किया है। मित्र और वरुण का रेतस्, ज्ञान तथा श्रद्धा की मिली हुई शक्ति है। वेद में मित्र और वरुण विद्युत् के प्रकाश को देखते हैं, परन्तु वहाँ "ज्योति" "त्वा" का विशेषण है अर्थात् स्वयं वसिष्ठ को चञ्चलता के कारण बिजली की चमक कहा गया है। उसके पश्चात् उक्थ तथा साम—ब्राह्मण के शब्दों में गौ और संस्तव—आजकल की भाषा में ज्ञान तथा भक्ति-रूप मित्र तथा वरुण के रेतस् अर्थात् शिक्षा रूपी यज्ञ [रेतो वा अत्र यज्ञः। श० ७।३।२।९] से उसका दूसरा जन्म होता है। इतिहासकार ने **उर्वशी** के दर्शनमात्र होने ही और वरुण के वीर्य से **वसिष्ठ** का पहला ही जन्म करवाया है। यह उसकी भूल है। क्या इसी के निराकरण के लिए यास्क ने "उत" का अर्थ "अपि" कर दिया है, जिससे बलात् दूसरे जन्म पर दृष्टि पड़ जाय?

८. कुरुङ्ग

हम ऊपर ऐतिहासिक पक्ष के विकास का वर्णन कर चुके हैं। वेद में जो सामान्य संज्ञाएँ है, यथा-मेघ-वाचक "**वृत्र**" के आख्यान में नाटक के पात्रों की तरह विशेष व्यक्ति सी बन जाती हैं। उनके वृत्तान्त का, कथानक के रूप में भूतकालपरक वर्णन किया जाता है। यह शैली प्रथम तो वेद ही में विद्यमान है। फिर ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इसका अनुसरण हुआ है। वहाँ तो निर्वचन भी कथानक ही के रूप में किया गया है। यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्। ऐतिहासिक सम्प्रदाय ने इन नाटक के पात्रों को वास्तविक व्यक्ति बना लिया है। उनकी दृष्टि में **वृत्र** एक व्यक्ति-विशेष है। निरुक्तकार के मत में यह सारी प्रक्रिया अन्यथा-सिद्ध है। उनके लिए **वृत्र** सीधा-सादा मेघ है। यास्क ने वृत्र के प्रकरण में ऐतिहासिक और नैरुक्त पक्ष के भेद का यह नमूना दे दिया। यही बात चलते-चलते "**सरण्यू**" तथा "**यम-यमी**" के सम्बन्ध में भी कही गयी। ऐतिहासिकों के मत में ये तीनों व्यक्तिविशेष हैं। नैरुक्त "सरण्यू" का अर्थ रात्रि करते हैं, और "**यम-यमी**" का क्रमशः मध्यम-स्थानीय देव तथा उसका शब्द। यहाँ उतने विस्तार से काम नहीं लिया जितना वृत्र के प्रकरण में। वृत्र का उदाहरण सब से पूर्व आया था। इसलिए उसका विस्तृत विवेचन किया। आगे संक्षेप से ही वही बात कह दी। बुद्धिमान् पाठक अन्य स्थानों पर भी यास्क का अभिप्राय वही समझेंगे जो वृत्र के प्रकरण में आचार्य ने स्पष्ट शब्दों में स्वयं कह दिया है।

६।२२ में "कुरुङ्ग" शब्द का निर्वचन किया है—

कुरुङ्गो राजा बभूव कुरुगमनाद्वा, कुलगमनाद्वा, कुरुः

कृन्ततेः।

कुरुङ्ग राजा हुआ। कुरुङ्ग=कुरुओं (हिंसकों) की ओर जाने (उनका मन हरने) वाला, (शत्रु-) कुल की ओर जाने (उस का दमन करने) वाला। कुरु=हिंसक=क्रूर।

ऐतिहासिक पक्ष में "कुरुङ्ग" किसी विशेष राजा का नाम है। बभूव क्रिया से यास्क ने उस का प्रदर्शन कर दिया। फिर अपना निर्वचन दे दिया, जैसे वृत्र शब्द का दिया था। इससे कुरुङ्ग एक सामान्य संज्ञा हो गई। जो भी कुरुकुल का दमन करेगा वह कुरुङ्ग होगा। ऋ० ८।४।१९ में जहाँ से यह शब्द लिया गया है "कुरुङ्गस्य", "राज्ञः" का विशेषण है जिस का अर्थ स्पष्टतया "क्रूरों को दबानेवाले राजा का" है। निर्वचन करते हुए आचार्य ने ऐतिहासिक पक्ष के विकास की प्रक्रिया भी दिखा दी। कुरुङ्ग वेद में राजा का विशेषण है। आख्यान में उसका अर्थ हुआ राजा। इतिहास में वह एक विशेष राजा बन गया।

९. कीकट

६।३२ में "कीकट" का इस प्रकार निर्वचन किया है—

कीकटो नाम देशो अनार्यनिवासः। कीकटाः=किंकृताः, किं क्रियाभिरिति प्रेप्सा वा।

कीकट वह देश है जिस में अनार्य रहते हैं। कीकट=किंकृत=वे क्या करते हैं, कुछ भी नहीं; या क्रियाओं से क्या होता है? ऐसा मानने वाले, अविश्वासी।

वेद में यह सामान्य संज्ञा है। जहाँ भी धर्म-कर्म से विमुख मनुष्य रहेंगे उसे कीकट देश कहा जायेगा।

वेद-मन्त्र स्वयम् अपने अभिप्राय को स्पष्ट कर रहा है—

किन्ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः॥

—ऋ० ३।५३।१४

अनार्य देश में गौएँ क्या कर रही हैं? वे लोग तो न (यज्ञ के लिए) दूध दोहते हैं न यज्ञ-याग करते हैं। अत्यन्त कुसीदजीवी मनुष्य का माल, हे प्रभो! हमें दे दो। इस नीच शक्तियोंवाले को हमारे अधीन कर दो।

अत्यन्त कुसीदजीवी निकम्मा होता है। उसका व्यवहार छल पर आश्रित रहता है। वह कोई उत्पादक धन्धा नहीं करता। गौएँ उसके अधीन होकर बेकार रह जाती हैं। निकम्मे देशों में यज्ञ-याग की प्रथाएँ नष्ट हो जाती हैं। ऐसे मनुष्यों को नियन्त्रित करने की आवश्यकता है।

''प्रमगन्द'' का अर्थ यहाँ ''मगन्द का अपत्य'' किया गया है। इस पर अगले अध्याय में प्रकाश डाला जायेगा।

१०. नाभाक

निरुक्त १०।५ में ''नाभाक'' शब्द पर लिखा है—

ऋषिर्नाभाको बभूव।

नाभाक ऋषि हुआ।

यास्क इस शब्द का निर्वचन नहीं करते, क्योंकि स्वयं वेद-मन्त्र में ही कहा है नभन्तामन्यके समे। इसका अर्थ यास्क इस प्रकार करते हैं—

मा भूवन्नन्यके सर्वे, ये नो द्विषन्ति दुर्धियः, पापधियः, पापसङ्कल्पाः।

द्वेष करनेवाले न रहें। दुष्ट पाप-बुद्धि, पाप-सङ्कल्प वाले लोग जिस के रहने से न रहें, वह नाभाक है।

यास्क कहते हैं—

एष एव भवति।

वही एक रहता है।

वेद ने तो ''नाभाक'' का अर्थ भी कर दिया है। उसे यास्क ने खोल दिया। ऐतिहासिकों के मत में वह व्यक्ति-विशेष है तो रहे। वेद में वह ''ऋषि'' अर्थ में आया है। ऋषि वह है जिसकी विद्यमानता में दुराचारी लोगों का रहना असम्भव होता है।

११. भग

निरुक्त १२।१४ में ''भग'' को उदय होने से पूर्व का सूर्य बताया गया है। इस पर ऐतिहासिकों की कल्पना का प्रदर्शन इस प्रकार करते हैं—

अन्धो भग इत्याहुरनुत्सृप्तो न दृश्यते प्राशित्रमस्याक्षिणी निर्जघानेति च ब्राह्मणम्।

भग अन्धा था—ऐसा कहते हैं। अनुदित होने से वह दीखता नहीं। ब्राह्मण में कहा है—प्राशित्र ने उसकी आँखें फोड़ दीं।

निरुक्तकार ऐतिहासिक पक्ष से कितना दूर है—यह इसी एक व्याख्या से स्पष्ट है। यास्क के मत में भग सूर्य है जो अभी उदित नहीं हुआ। आलंकारिक भाषा में अभी उसकी आँख नहीं खुली। ऐतिहासिक पक्ष में वह एक देवता है, जिसकी आँखें फूट चुकी हैं।

□□

ऐतिहासिक पक्ष के विकास का एक और प्रकार

उपर्युक्त उदाहरणों में ऐतिहासिक सम्प्रदाय के प्रादुर्भाव की एक विधि पर प्रकाश डाला गया है। वह है सामान्य संज्ञाओं का, आख्यान के रास्ते विशेष-वाची शब्द का रूप धारण करना। निरुक्त में ऐतिहासिक कथाओं के एक दो ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जो किसी कथानक के आधार पर निर्मित नहीं हुए, किन्तु किसी सूक्त अथवा मन्त्र के अभिप्राय को रोचक बनाने के लिए उसकी भूमिका रूप में एक घटना सी वर्णित कर दी गई है। सूक्त अथवा मन्त्र का प्रकाश उस घटना का परिणाम माना गया है।

१. मण्डूकी

अथर्व ४। १५ का विषय वर्षा ऋतु है। उस में मण्डूकों की आवाज़ का वर्णन अत्यन्त हृदयग्राही हुआ है। इस पर निम्नलिखित इतिहास गढ़ा गया है—

वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव। तं मण्डूका अन्वमोदन्त। स मण्डूकान् अनुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टाव। तदभिवादिन्येषर्ग् भवति—

उपप्रवद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि।

मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः॥ १४॥

वसिष्ठ ने वर्षा की इच्छा से बादल की स्तुति की। मेंढकों ने उसका अनुमोदन किया। अनुमोदन करते हुए मेंढकों को देखकर उसने उनकी भी स्तुति कर दी। इस वृत्तान्त को यह ऋचा कह रही है—

ऐ मण्डूकि! उठ, ऊँची बोल। ऐ टर्राने वाली! वर्षा का समाचार ला। चारों पैरों को उठाकर तालाब के बीच में तैर।

इस मन्त्र में मण्डूकी नाम से संसार-सरोवर में डूबी हुई बुद्धि को सम्बोधित किया गया है। मण्डूक का अर्थ यास्क ने मज्जूक=डूबा हुआ या मन्दूक=मस्त किया है। उसे जग जाने, प्रभु-प्रेम की मनोहर वृष्टि का सन्देश अपनी उद्‌बुद्ध स्तुति-वृत्ति से पाने की प्रेरणा की गई है। इस मण्डूकी का चार पैर उठाना क्या है? चतुष्पाद ओ३म् का वह ध्यान जिस से पदार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन सब की साधना करते हुए प्रभु-भक्त संसार-सरोवर में खूब मज़े ले-ले कर तैरे। कहाँ ऋषि की अपने अन्तःकरण में उपस्थित यह मस्ती-रूप टर्रा रही मण्डूकी और कहाँ ऐतिहासिकों का मण्डूकान् तुष्टाव। कुरानियों की परिभाषा में यह इतिहास वेद-मन्त्र की ''शान-इ-नजूल'' है।

२. कपिञ्जल

निरुक्त ९।४ में भी एक ऐसा ही इतिहास दिया गया है। वह इस प्रकार है—

गृत्समदमर्थमभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽभिववाशे। तदभिवादिन्येषर्ग् भवति—

भद्रं वद दक्षिणतो भद्रमुत्तरतो वद।
भद्रं पुरस्तान्नो वद भद्रं पश्चात् कपिञ्जल॥ –निरुक्त

गृत्समद किसी काम के लिए उठा। इस अवस्था में तीतर बोल पड़ा। इसका वर्णन इस ऋचा में है—

ऐ तीतर! दक्षिण दिशा से शुभ बोली बोल, उत्तर दिशा से शुभ वचन बोल। आगे तथा पीछे से मंगल भाषण कर।

यह ऋचा वेद में नहीं है। निरुक्त ९।३ में "**शकुनि**" शब्द का निर्वचन कर ऋ० २।४२।१ जिस में यह शब्द पठित है, की व्याख्या की गई है। ऋ० २।४२, ४३ का ऋषि गृत्समद है। उसके सम्बन्ध में निरुक्त ९।४ में उपर्युक्त कथानक दिया गया है। ऋ० २।४२ का देवता कपिञ्जल इवेन्द्रः है अर्थात् तीतर की सूरत में आत्मा। सूक्त में "**शकुनि**" शब्द पठित है, "कपिञ्जल" नहीं। कपिञ्जल पक्षियों का प्रतिनिधि है। इनमें भी वैसा ही आत्मा है जैसा हम में है—यह अनुभव कर कहा गया है।

कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम्।
सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा काचिदभिभा विश्व्या विदत्॥ १॥
मा त्वा श्येन उद्वधीन्मा सुपर्णो मा त्वा विददिषुमान्वीरो अस्ता।
पित्र्यामनु प्रदिशं कनिक्रदत्सुमङ्गलो भद्रवादी वदेह॥ २॥
अव क्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमङ्गलो भद्रवादी शकुन्ते।
मा नः स्तेन ईशत माघशंसो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ ३॥

पक्षी बोल रहा है, मानो जन्म–जन्मान्तर की कथा कहता है।

वह अपनी जीभ को ऐसे चलाता है जैसे खेवट नाव को। ऐ पक्षी! तेरा आना शुभ हो। तुझे किसी ओर से कोई आपत्ति न सताये॥ १॥

तुझे बाज़ न उड़ा ले जाये। तुझ पर गरुड़ न झपटे। कोई धनुर्धर वीर तुझे तीर का निशाना न बनाये। पितृ–यान की ओर संकेत करता हुआ तू सुमंगल हो, भद्रवादी हो॥२॥

ऐ शकुन्त! तू गृहस्थों को दक्षिण-मार्ग (पितृयान) की बात बता। तू सुमङ्गल हो। तू भद्रवादी हो। इस पर चोर का राज्य न हो। पाप के प्रशंसक का राज्य न हो। हमारी वीरता शुभ हो। हम यज्ञ में वेद की महती वाणी का उच्चारण करें ॥ ३ ॥

पक्षी-जाति के साथ वेद ने कैसे प्रेम-पूर्ण व्यवहार की शिक्षा दी है। पक्षी हमारे जैसा आत्मा है जो जन्म-जन्मान्तर के चक्कर में पड़ा मानो पितृयान का बोलता-चालता वृत्तान्त है। पक्षियों को मारना नहीं चाहिये। ये हमारे भाई हैं। न स्वयम् उन पर तीर चलाओ, न श्येन तथा गरुड़ आदि द्वारा इन का घात कराओ। पक्षी पर तीर चलाना वीरता नहीं, क्रूरता है।

मन्त्रों के इस महान् आशय को इतिहास ने स्पष्ट तो नहीं, तिरोहित अवश्य कर दिया है।

३. ऋषि-पुत्री

इस पुस्तक के "मन्त्र और उनके ऋषि" प्रकरण में "**नद**" शब्द पर विचार करते हुए हम ने ऋक् १।१८९।४ की ओर संकेत किया था। स्तुति में निमग्न ऋषि की धर्मपत्नी अपने पति के ब्रह्मचर्यव्रत का प्रतिवाद करती है, उसकी इच्छा सन्तान उत्पन्न करने की है। वहाँ ऐतिहासिकों ने एक सचमुच की ऋषि-पुत्री की कल्पना की है जिसने उनके विचार में वास्तव में सूक्त-कथित विलाप किया है। यह भी सूक्त की कपोल-कल्पित भूमिका ही है।

इतिहास पक्ष के विकास की यह दूसरी प्रक्रिया है। मन्त्रों को रोचक बनाने के लिए उनसे पूर्व एक भूमिका सी लगा देना। इस प्रणाली का अनुसरण आज भी किया जा रहा है।

पिछले दिनों किसी ने धम्मपद का अनुवाद प्रकाशित किया था। प्रत्येक श्लोक से पूर्व एक कल्पित घटना कथा-रूप में वर्णन कर दी थी, जिस से बुद्ध भगवान् का वह उपदेश किसी विशेष प्रसंग में दिया गया प्रतीत होता था।

विद्वानों की दृष्टि में इन भूमिका-रूप कथाओं का ऐतिहासिक मूल्य कुछ भी नहीं है।

□□

अपत्य-प्रत्यय

ऐतिहासिक तथा नैरुक्त सम्प्रदाय की तुलना करते हुए जहाँ "प्र" उपसर्ग के साथ या ताद्धित रूप में किसी पुत्रवाची शब्द का प्रयोग हुआ है, उस पर विचार करने का काम हम किसी अगले अध्याय के लिए छोड़ते चले आये हैं। आओ! अब यास्क के अपत्य-प्रत्यय पर थोड़ा सा विचार करें।

१. प्रस्कण्व

निरुक्त ३।३ में **प्रस्कण्व** शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—

प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः, कण्वप्रभवो यथा प्राग्रम्।

प्रस्कण्व=कण्व का पुत्र, कण्व-प्रभव=प्रभव-कण्व, प्रकण्व=प्रस्कण्व, जैसे प्रगत+अग्र=प्राग्र।

"प्र" उपसर्ग का यह अर्थ करने की शैली यास्क के समय में प्रचलित होगी। आजकल इस "प्र" को प्रकर्ष-अर्थ में प्रयुक्त समझा जाता है। प्रस्कण्व=प्रकण्व का अर्थ आज कल होगा—प्रकृष्ट कण्व अर्थात् प्रकृष्ट मेधावाला।

२. प्रमगन्द

यास्क द्वारा किये गये पुत्रार्थ में भी यह प्रकर्ष की भावना कुछ छुपी-छुपी सी काम करती प्रतीत होती है।

निरुक्त ६।३२ में "प्रमगन्द" शब्द पर लिखते हुए कहा है—

मगन्दः कुसीदी माङ्गदः, मामागमिष्यतीति ददाति। तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्तकुसीदिकुलीनः।

मगन्द=माङ्गद=माम्+(आ) ग+द=माम्+आगमिष्यति+इति ददाति=जो इसलिए धन देता है कि मुझे (कई गुणा होकर) मिलेगा=सूदखोर। प्रमगन्द=मगन्द का पुत्र=अत्यन्त कुसीदी (सूदखोरों के) कुल का।

यहाँ "अत्यन्त" विशेषण का व्यवहार प्रकर्ष की भावना को स्पष्ट कर रहा है। इस प्रकार अर्थ करने का भाव सम्भवतः यह है कि स्वयं पहली पीढ़ी में सूद खानेवाले व्यापारी की अपेक्षा सूदखोरों के कुल में उत्पन्न हुआ मनुष्य कई पीढ़ियों के संस्कार अपने साथ लाया होगा, और इसलिए वह अधिक सूदखोर होगा। यही बात **प्रस्कण्व**[१] के सम्बन्ध में समझनी चाहिये।

---

१. ऋ० १।४५।३ में "प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्"—ऐसा पाठ है। इसी सूक्त के पाँचवें मन्त्र में कहा है—

जैसे प्रमगन्द बड़ा सूदखोर है, ऐसे ही प्रस्कण्व बड़ा मेधावी है।

३. उषा का पुत्र सूर्य

यास्क द्वारा कल्पित पुत्र-पिता आदि सम्बन्ध प्रायः औपचारिक हैं, वास्तविक नहीं। यह बात यास्क कई स्थलों पर स्वयं कह भी देते हैं। यथा—

सूर्यमस्याः (उषसः) वत्समाह साहचर्यात्। २। २०

सूर्य को उषा का पुत्र साहचर्य के कारण कहा है।

अर्थात् यहाँ वत्स का अर्थ है सहचारी। अन्य स्थलों पर भी जहाँ यास्क किसी शब्द का निर्वचन कर उसके ताद्धित रूप को अपत्यवाची कहते हैं, वहाँ उनकी भावना साहचर्य की रही होगी—यह कोई दुरूह अनुमान नहीं

कण्वस्य सूनवो हवन्तेऽवसे त्वा।

अर्थात् कण्व के पुत्र तुझे रक्षा के लिए पुकारते हैं। यास्क ने ''प्रस्कण्व'' का अर्थ ''कण्वस्य पुत्रः'' करने का विचार यहीं से लिया प्रतीत होता है। ऊपर ''प्रस्कण्व'' एकवचन था; यहाँ ''कण्वस्य सूनवः'' बहुवचन है। ''प्रस्कण्व'' का सम्बन्ध भी पुकार से है और ''कण्व-सूनु'' भी पुकार ही कर रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रस्कण्व यहाँ किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं, किन्तु जाति-परक सामान्य संज्ञा ही है। स्वयं ''कण्व'' शब्द ही ऋ० १। ४४। ८ में बहुवचन में पठित है। कहा है—

कण्वास त्वा सुतसोमास इन्धते हव्यवाहं स्वध्वर।

अर्थात् हे सुन्दर यज्ञ कर रहे देव! कण्व लोग सोम सम्पादन कर तुझ हवि स्वीकार करनेवाले को प्रज्वलित करते हैं। ''कण्व'' शब्द निघण्टु में ''मेधावी'' अर्थ में पठित है। ''कण्वासः'' का अर्थ हुआ मेधावी लोग। इस प्रकार ''कण्व'' स्वयं सामान्य संज्ञा हो गई। जब ''कण्व'' ही विशेष व्यक्ति न रहा तो ''प्रस्कण्व''—कण्व का पुत्र और ''कण्वस्य सूनवः'' विशेष कैसे होंगे? सम्पूर्ण कण्व-कुल अर्थात् मेधावी-वंश ही प्रभु को पुकार-पुकार कर यज्ञिय जीवन की आग को प्रज्वलित कर रहा है। एक कण्व से दूसरा, दूसरे से तीसरा अपने आप पैदा हो रहा है। शिष्य गुरु से अधिक मेधावी है।

गुरु कण्व है तो उसके सूनु—शिष्य प्रस्कण्व हैं। मानव सन्तान की यह परम्परा मेधा को उत्तरोत्तर प्रकृष्ट कर उसका सन्तनन=सम्यक् विस्तार कर रही है। ''सूनु'' वह है जो सवन अर्थात् यज्ञ सम्पादन करे। स्वयं ''कण्वों'' को ''सुत-सोम'' कहा है। सुत-सोम कहिये अथवा सूनु कहिये, बात एक ही है। मेधा का यज्ञ करने वाले—उसे आगे ले जाने वाले ही प्रस्कण्व हैं, ''कण्वस्य सूनवः'' कण्व-पुत्र हैं। इसी को लक्ष्य में रखकर किसी ने कहा है—

पुत्रादिच्छेत् पराजयम्।

है। व्याकरण में शब्द ताद्धित रूप से स्वार्थ तथा सम्बन्धी अर्थ में प्रयोग होता ही है। जैसे प्रज्ञ और प्राज्ञः के एक ही अर्थ हैं।

४. औशिज कक्षीवान्

इसी प्रकार यदि ६। १० में जहाँ कक्षीवान् का अर्थ कक्ष्यावान् अर्थात् बँधा हुआ करने के पश्चात् औशिजः का अर्थ उशिजः पुत्रः अर्थात् उशिक् का पुत्र और फिर उशिक् वष्टेः कान्तिकर्मणः उशिक् का अर्थ कान्तिवाला किया गया है, कक्षीवान् का अर्थ बद्ध आत्मा और औशिजम् को उशिक् अर्थात् स्वरूप से कान्तिवाला कर दिया जाये तो इसमें कोई खींचातानी नहीं होगी। काम तो उशिक् को परमेश्वर, और ''औशिज कक्षीवान्'' को उसका पुत्र मानने से भी अच्छी तरह चल सकता है। स्वयं यास्क ने ६। २६ में ''आर्य'' का अर्थ किया है अर्यस्यापत्यम्—ईश्वर-पुत्र। सो ''कौशिक'' तथा ''औशिज'' का भी इसी प्रकार अर्थ हो सकता है।

५. मुद्गल भार्म्यश्व

निरुक्त ९। २३ में ''मुद्गल'' का इतिहास इस प्रकार उद्धृत किया गया है—

मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर्वृषभञ्च द्रुघणं च युक्त्वा संग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय। तदभिवादिन्येषर्ग् भवति—

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्।
येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु॥

—ऋ० १०। १०२। ९

भृम्यश्व के पुत्र मुद्गल ऋषि ने **वृषभ (बैल)** और द्रुघण (गदा) को मिलाकर संग्राम में युद्ध किया और युद्ध को जीत गया। यह बात इस ऋचा में कही है—

दिशाओं के बीच में पड़े, वृषभ (आत्मा) द्वारा प्रमुख द्रुघण को देख। जिस से मुद्गल (संयमी पुरुष) ने संग्रामों में लाख गौएँ जीतीं।

मुद्गल का अर्थ यास्काचार्य ने मुद्गवान्=मुद्गरवाला करके मदनङ्गिलतीति वा मदङ्गिलो वा मुदङ्गिलो वा कामदेव को निगल जानेवाला, मस्ती को या मोद को निगल जानेवाला अर्थात् संयमी किया है।

वृषभ, इन्द्र अर्थात् आत्मा को कहते हैं। शरीर को वृक्ष स्वयं वेद तथा वेद वाङ्मय में स्थल-स्थल पर कहा गया है। अतः द्रुघण=द्रुममय अर्थ शरीर है ही। इस प्रकार मन्त्रवर्णित युद्ध तो आध्यात्मिक ही है। सूक्त के ऋषि ने **त्रित** की तरह, जिस का वर्णन हम पहले ऋषियों के प्रकरण में कर चुके हैं, सूक्त के साक्षात्कार के पश्चात् अपना नाम मुद्गल रखा होगा। इतिहास उसे भार्म्यश्व बतलाता है। यास्क भार्म्यश्व का अर्थ करते हैं भृम्यश्व का

पुत्र। यह पुत्र-सम्बन्ध सम्भव है। लाक्षणिक हो। वास्तविक होने में भी कोई आपत्ति नहीं।

६. अग्नि-पुत्र विरूप आङ्गिरस

निरुक्त ११।१७ में ''विरूपाक्ष'' के आगे कहा है—

ते अङ्गि॑रसः सू॒नव॒स्ते अ॒ग्नेः परि॑ जज्ञिरे। ऋ० १०।६२।५

वे अङ्गिरा के पुत्र अग्नि से उत्पन्न हुए।

यह जन्म सम्बन्ध स्पष्टतया लाक्षणिक है। जैसे ३।१७ में—

अङ्गारेष्वङ्गिराः।

अंगारों में अंगिरा पैदा हुआ कहा गया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि तपस्या का यह केवल आलंकारिक वर्णन है।

७. पराशर

निरुक्त ६।३० में पराशर का इतिहास लिखा है—

पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे।

बूढ़े वसिष्ठ के यहाँ पैदा हुआ।

यहाँ निर्वचन केवल पराशीर्णस्य पुत्रः इतना ही है अर्थात् जीर्ण-शीर्ण का पुत्र या दूसरे शब्दों में अधिक जीर्ण-शीर्ण। और जो इतिहास दिया गया है, वह साम्प्रदायिकों की कल्पना का कौशल ही है। आचार्य ने एक ही वाक्य में जहाँ इतिहास का प्रदर्शन कर दिया है, वहाँ निर्वचन भी दे दिया है।

निरुक्त शैली से परिचित पाठक नीर-क्षीर न्याय से इन दोनों पक्षों में स्पष्ट भेद कर लेंगे। इतिहास पक्ष का अपना इतिहास भी इस छोटे से वाक्य में आ गया है। अधिक पराशीर्ण को वेद ने पराशर या यास्क शैली से दूसरी पीढ़ी का पराशीर्ण या पराशीर्ण का पुत्र कहा है। यह एक सामान्य संज्ञा थी। इतिहासकारों ने न केवल इसे एक ऐतिहासिक व्यक्ति बनाया, किन्तु इसके लिए एक बूढ़ा पिता भी ढूँढ निकाला। निरुक्तकार ने अपने निर्वचन के बल से फिर पराशीर्णस्य पुत्रः या **प्रमगन्द** की तरह अत्यन्तपराशीर्णकुलीनः कर दिया। यह फिर सामान्य संज्ञा बन गई।

८. अश्वी

निरुक्त १२।१ में अश्विनौ का अर्थ द्यावापृथिव्यौ और अहोरात्रे कर राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः लिखा है। ६।१३ में ''नासत्यौ'' की व्युत्पत्ति करते हुए इन्हें नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा—नासिका से पैदा हुए, ऐसा कहा है। वेद-वाङ्मय में प्राण-अपान को अश्वी कहा गया है। सो वे

नासिका से निकलते ही हैं। शतपथ १२।९।१।१४ में नासिकाओं को अश्विनौ कहा है। इतिहासकारों ने इन्हें नासिका से पैदा हुए दो पुण्यात्मा राजा बना दिया है।

९. ऋभु

निरुक्त ११।१५ में मध्यम-स्थानीय "ऋभवः" शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—

उरु भान्तीति वा, ऋतेन भान्तीति वा, ऋतेन भवन्तीति वा।

खुले चमकते हैं, ज्ञान से चमकते हैं, ज्ञान-स्वरूप=ज्ञानी।

निघण्टु में "ऋभु" शब्द मेधावी के अर्थ में पठित है। फिर मध्यम-स्थानीय देवों में भी इस शब्द का बहुवचनान्त पाठ हुआ है। ऋ० १।११०।४ में जहाँ "ऋभवः" शब्द आया है, वहाँ "सौधन्वनाः" इसका विशेषण पड़ा है। निघण्टु में "धन्व" शब्द अन्तरिक्षवाची शब्दों में पठित है। इससे स्पष्ट है कि "**सौधन्वनाः**" का अर्थ है—अन्तरिक्ष-विद्या में प्रवीण[१]। यास्क के निर्वचन का अर्थ भी यही है।

अब इस पर यास्क इतिहास-पक्ष का इस प्रकार उल्लेख करते हैं—

ऋभुर्विभ्वा वाजः इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्राः बभूवुः। तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां बहुवन्निगमाः भवन्ति, न मध्यमेन। तदेतद् ऋभोश्च बहुवचनेन चमसस्य च संस्तवेन बहूनि दशतयीषु सूक्तानि भवन्ति

ऋभु, **विभ्वा** और **वाज**, ये आंगिरस सुधन्वा के तीन पुत्र थे। इनमें से पहले और तीसरे का उल्लेख वेद में बहुवचन में हुआ है। बीचवाले का नहीं हुआ। और इस बहुवचनान्त ऋभु के, ऋग्वेद में बहुत सूक्त हैं, जिन में इसकी, चमस के साथ स्तुति की गई है।

"चमस" शब्द निघण्टु १।१० में मेघ अर्थ में पठित है। उसका वर्णन मध्यम लोक के विशेषज्ञों के साथ आना स्वाभाविक है। निरुक्तकार ने इतिहास का उल्लेख भी कर दिया और साथ ही साथ उसका खण्डन भी। आङ्गिरस सुधन्वा का ऋभु नाम का पुत्र भी एक है और **वाज** नाम का भी एक। परन्तु वेद में ये दोनों बहुवचनान्त हैं। बहुवचनान्त विशेषवाची कैसे होंगे? इतिहास का भवन वास्तव में "सौधन्वनाः"—इस शब्द के आधार

---

१. **सौधन्वना धन्वान्तरिक्षं शोभनं च धन्व सुधन्व तस्मिन् धन्वनि भवास्ते ऋभवो वैद्युता ज्योतिर्विशेषाः।११।१६** (स्कन्दस्वामी)

अर्थ—सौधन्वा=धन्व नाम अन्तरिक्ष का है। शोभन अन्तरिक्ष में होनेवाले सौधन्वा ऋभु=विद्युत् की विशेष ज्योतियाँ।

पर खड़ा किया गया है। परन्तु उस का अर्थ हम निघण्टु तथा निरुक्त दोनों के प्रमाण से "अन्तरिक्ष विद्या में प्रवीण" कर चुके हैं। यास्क की रीति के अनुसार उन्हें अन्तरिक्ष-पुत्र कह लीजिए, परन्तु पुत्र का अर्थ यहाँ सहचारी ही होगा।

१०. आर्ष्टिषेण

और तो और, हम देवापि के प्रकरण में बता आए हैं कि स्वयम् इतिहासवादियों के मतानुसार **देवापि** ऋष्टिषेण का शिष्य था, पुत्र नहीं। तो भी यास्क ने आर्ष्टिषेण का अर्थ किया है ऋष्टिषेणस्य पुत्रः। यास्क, पुत्र शब्द का अर्थ सन्तान नहीं, किन्तु सम्बन्धी या उनके अपने शब्दों में सहचारी लेते हैं—इसका इससे अधिक क्या स्पष्ट प्रमाण हो सकता है।

इन उदाहरणों से सिद्ध है कि "प्र" उपसर्ग का अर्थ यास्क के मत में भी प्रकृष्ट ही है। और ताद्धित रूप का प्रयोग या तो स्वार्थ में हुआ है या सम्बन्धी अर्थ में।

अनित्य इतिहास से इन तीनों अर्थों का कोई सम्बन्ध नहीं। इतिहास के निर्माण में सम्भवतः इस अपत्य-प्रत्यय ने भी सहायक कारण का काम दिया होगा। नैरुक्त पक्ष में इस प्रत्यय के रहते भी संज्ञाएँ सामान्य रहती हैं। इनसे मन्त्रों की नित्यता में बाधा नहीं पड़ती।

□□

नैरुक्त पक्ष

प्रत्येक सम्प्रदाय का वर्णन करते हुए हमने उसकी प्रतियोगिता में नैरुक्त पक्ष साथ-साथ रख दिया है। इसलिए नैरुक्त सम्प्रदाय पर स्वतन्त्र विचार करने की अब आवश्यकता नहीं रही फिर भी जिन सिद्धान्तों का उल्लेख ऊपर प्रसंग-वश किया गया है, उन्हें एक जगह इकट्ठा कर देने से नैरुक्त पक्ष का मोटा सा स्वरूप एक ही दृष्टि में संक्षेप से निरुक्तकार के अपने मन्तव्यों का फिर से दिग्दर्शन करा देते हैं।

१. ''आख्यान समय'' से **नैरुक्तों का मतभेद** यह है कि जहाँ आख्यानवादी देवताओं की पृथक् चेतन सत्ता मानते हैं (७।७)। निरुक्तकार के मत में वे एक महान् आत्मा के अंग-प्रत्यंग हैं (७।४)। वे स्वयं चेतन हों, अचेतन हों, उभयविध हों, कुछ हों, निरुक्तकार का पक्ष इनमें से किसी भी विकल्प के रहते अक्षुण्ण बना रहता है (७।७)। आख्यान समय जिन्हें व्यक्तियों का रूप दे देता है, नैरुक्त उन्हें प्राकृतिक घटनाओं के औपचारिक पात्र मानते हैं।

२. वेद नैरुक्त की दृष्टि में नित्य हैं (१।२), स्वयम्भू हैं (२।३)। ऋषि मन्त्रों का दर्शन करते हैं, प्रणयन नहीं। जिन आचार्य **औपमन्यव** की सम्मति ब्राह्मण ग्रन्थ के प्रमाण के साथ निरुक्तकार ने उद्धृत की है (२।३), जब वे ही किसी शब्द का निर्वचन मन्त्रों का ''कर्त्ता'' कर उसका अर्थ ऋषि करते हैं (३।११) तो वहाँ ''कर्त्ता'' का अभिप्राय आविष्कर्त्ता तथा साक्षात्कर्त्ता का होगा। यदि किसी मन्त्र को ऋषि की उक्ति, स्तुति, अथवा प्रवचन कहा जाये या किसी सूक्त की शैली को ऋषि का शील कहा जाये तो वह उक्ति तथा प्रवचन का शील आदि भी ऋषि के मन्त्र-दर्शन का ही फल है, क्योंकि स्वयं निरुक्तकार इन्हें ऋषियों की दृष्टि के ही भिन्न-भिन्न प्रकार कहते हैं (७।३)। जहाँ किसी मन्त्र में ऋषि का नाम आया प्रतीत होता है, वहाँ मन्त्र-पठित शब्द तो यास्क के निर्वचनानुसार सामान्य संज्ञा (Common noun) ही हैं, सम्भवत: ऋषि ने मन्त्र-दर्शन के बाद उसे अपने नाम के रूप में स्वीकार कर लिया है। **स्कन्दस्वामी ऋषियों के नामों को भी नित्य मानते हैं,** परन्तु निरुक्तकार ने केवल मन्त्रों को नित्य माना है, ऋषियों के नामों को नहीं। इसलिए यह मत स्कन्दस्वामी का अपना हो तो हो, यास्क का मालूम नहीं होता।

३. यास्क के इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए उनका ऐतिहासिकों से मतभेद झट समझ में आ जाता है। ''**वृत्र**'' उनकी दृष्टि में कोई ऐतिहासिक

असुर-विशेष नहीं, किन्तु मेघ ही है (२।५)।"**सरण्यू**" रात्रि है (१२।११)। "**यम**" और "**यमी**" क्रमशः मध्यम-स्थानीय देव तथा उसके शब्द हैं (१२।१०)। इन व्यक्तियों का ऐतिहासिक रूप कैसे बना—इसकी कथा भी निरुक्त द्वारा किए गए निर्वचनों में विद्यमान है। स्वयं वेदों में आख्यान-शैली का अवलम्बन किया गया है। इसका अभिप्राय निरुक्तकार के शब्दों में ऋषि की "प्रीति" है (१०।१२, १०।४४)। ये आख्यान औपचारिक हैं। ऐतिहासिकों के हाथ में पड़कर ये वास्तविक इतिहास का रूप धारण कर लेते हैं। "**वृत्र**" के उदाहरण में आचार्य ने इतिहास के विकास की इस प्रक्रिया को सविस्तर स्पष्ट किया है। ब्राह्मणों के भूतकालपरक निर्वचनों को केवल धातुपरक रूप देकर यास्क ने मानो हँसी-हँसी में ही उनका ऐतिहासिक रूप झट विलुप्त कर दिया है। अन्यत्र इस प्रणाली का संक्षेप कर दिया है। अर्थ ऐतिहासिक कर दिए और निर्वचन वही प्रकृतिपरक सामान्य। "**पराशर**" के निर्वचन में इसकी भी आवश्यकता नहीं समझी। वहाँ "पराशीर्ण" शब्द से निर्वचन कर दिया है और "स्थविर वसिष्ठ" से ऐतिहासिक पक्ष दिखा दिया है (३।३१)। समझदार पाठकों के लिए ये संकेत पर्याप्त स्पष्ट हैं।

४. आचार्य द्वारा किए गए अपत्य-प्रत्यय से सम्भवतः भ्रान्ति होती। परन्तु हमने नैरुक्त के अपने ही प्रमाणों से दिखा दिया है कि अपत्य-प्रत्यय निरुक्त में कहीं प्रकर्ष-अर्थ में प्रयुक्त है, कहीं स्वार्थ तथा "साहचर्य" अर्थ में।

५. **ऐतिहासिक पक्ष की उत्पत्ति** का एक और प्रकार मन्त्रों अथवा सूक्तों की कल्पित भूमिकाएँ हैं। निरुक्तकार उनके सम्बन्ध में अपनी निर्वचन-शैली के प्रयोग की आवश्यकता नहीं समझते। न ही वे उन आचार्यों के नामों की व्युत्पत्ति करने का कष्ट उठाते हैं, जिनके मत उन्होंने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किए हैं, क्योंकि वे नाम स्पष्ट विशेषवाची हैं।

६. निरुक्त पक्ष में मन्त्रों के अर्थ प्रायः आधिदैविक किए गये हैं। निरुक्तकार ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का विभाग तीन लोकों में कर दिया है। और सब देवताओं को इनमें से किसी न किसी लोक में स्थान दे दिया है तो भी कुछ एक स्थानों पर विकल्प रूप में आध्यात्मिक अर्थ भी किए हैं—

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः॥

—ऋ० १०।८२।२

इस मन्त्र का सूर्य-परक आधिदैविक अर्थ कर लिखा है—

अथाध्यात्मम्—विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्दर्शयितेन्द्रियाणाम्। एषामिष्टानि वा कान्तानि वा

क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वान्नेन सह सम्मोदन्ते, यत्रेमानि सप्त ऋषीणामिन्द्रियाण्येभ्यः पर आत्मा, तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे। १०। २६

अब आध्यात्मिक अर्थ लिखा जाता है—

(आत्मा) सब कामों को करनेवाला, विभूति-युक्त मनवाला, इन्द्रियों का धाता, विधाता तथा व्यापक, सन्दर्शयिता सम्यक् दृष्टि देनेवाला है। इन इन्द्रियों की कामनाएँ तथा प्रवृत्तियाँ इन्द्रियों के साथ मिलकर आनन्द मनाती हैं। इन इन्द्रियों से परे आत्मा है। सात इन्द्रियाँ उसमें एक हो जाती हैं। यह आत्मा की गति कही।

ऐसे ही निरुक्त १२। ३८ में (पाठ व स्वर भेद है)—

ति॒र्यग्बि॑लश्चम॒स ऊ॒र्ध्वबु॑ध्नो॒ यस्मि॒न् यशो॒ निहि॑तं वि॒श्वरू॑पम्।
अत्रास॑त॒ ऋष॑यः स॒प्त सा॒कं ये अ॒स्य गो॒पा म॒हतो॑ ब॒भूवुः॥[१]

—अथर्व० १०। ८। ९

इस मन्त्र का भी आधिदैविक अर्थ कर लिखा है—

अथाध्यात्मम्—तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन ऊर्ध्वबोधनो वा, यस्मिन् यशो निहितं सर्वरूपम्। अत्रासत ऋषयः सप्त सहेन्द्रियाणि यान्यस्य गोप्तॄणि महतो बभूवुरित्यात्मगतिमाचष्टे।

अब आध्यात्मिक अर्थ लिखते हैं—

यह सिर तिरछे छिद्रोंवाला है। यह शरीर के ऊपर लगा हुआ है। ऊपर रहते हुए यह ज्ञान का साधन है। इसमें सम्पूर्ण ज्ञानमय ख्याति निहित है। इसमें सात इन्द्रियाँ एक साथ रहती हैं जो इस महान् वस्तु (शरीर) की रक्षा करती हैं। यह आध्यात्मिक अर्थ है।

इससे प्रतीत होता है कि निरुक्तकार को आध्यात्मिक अर्थ भी अभीष्ट ही हैं। सम्भव है, पृथ्वी लोक का आध्यात्मिक अर्थ अन्नमयकोश, अन्तरिक्ष लोक का प्राणमय तथा मनोमयकोश और द्युलोक का विज्ञानमय तथा आनन्दमयकोश हो। इस विषय की स्वतन्त्र विवेचना करने की आवश्यकता है।

हमारी रुचि मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थों में है। इसलिए हमने मन्त्रों का प्रायः आध्यात्मिक अर्थ किया है। ऐसा करने में हमने नैरुक्त शैली का अनुसरण ही किया है, अतिक्रमण नहीं। कुछ एक ऐसे स्थलों पर हमने **स्कन्दस्वामी** द्वारा किये गये आधिदैविक अर्थ भी पाद-टिप्पणियों में उद्धृत

---

१. अथर्ववेद १०। ८। ९ में ''अन्न'' के स्थान पर ''तत्'' उपलब्ध होता है। शेष मन्त्र का पाठ वही है।

कर दिए हैं।

इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में याज्ञिकों का नैरुक्तों से मतभेद दिखाते हुए हम बता चुके हैं कि जहाँ मन्त्र का देवता प्रदर्शित न हो, वहाँ नैरुक्तों की सम्मति में मन्त्र को नाराशंस मानना चाहिए। नाराशंस का अर्थ निरुक्तकार के अपने शब्दों में यह है कि उस मन्त्र का विषय मनुष्य है। यास्क की इस उक्ति का अभिप्राय इसके सिवाय और क्या हो सकता है कि जहाँ कोई अर्थ करने का विशेष हेतु विद्यमान न हो, वहाँ मन्त्रों का प्रयोजन मनुष्यपरक समझना चाहिए। यही आध्यात्मिक दृष्टि है।

निरुक्तकार के विभाग के अनुसार अग्नि का स्थान पृथिवी है। इसका स्पष्ट अर्थ आग है। इसी पृथिवी-स्थानीय अग्नि के प्रकरण में ऋ० १।१६४।४६ को उद्धृत कर उसमें प्रयुक्त हुए "अग्नि" शब्द पर लिखते हैं—

इममेवाग्निं महान्तमात्मानम्।७।१७

इस महान् आत्मा की अग्नि को।

महान् आत्मा निरुक्त की विशेष परिभाषा है जिसका अर्थ है परमात्मा। इस अर्थ से प्रमाणित होता है कि पहले जो अन्य सब देवताओं को एक महान् आत्मा के अंग-प्रत्यंग कहा था, आचार्य का वह कथन सारयुक्त था। उनके द्वारा की गई आधिदैविक व्याख्यानों का अध्ययन करते हुए भी उनके इस सिद्धान्त को दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए। आधिदैविक व्याख्यानों के पीछे से आध्यात्मिक झाँकियाँ मिल ही रही हैं।

हमने इस विषय के सभी प्रमाण निरुक्त के प्रथम बारह अध्यायों से ही उद्धृत किए हैं, क्योंकि १३वां और १४वां अध्याय जिनका विषय ही आध्यात्मिक है, कई विचारकों की दृष्टि में प्रक्षिप्त हैं। यह समस्या हमारी इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर है, इसलिए इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं समझते।

❑❑❑

अनुक्रमणिका

१. मन्त्रों तथा मन्त्रांशों की—

२. निरुक्त के पाठों की—

३. विशेष नामों की

पं० चूमपति (एम०ए०)